दंगों का सिद्धांत, गणित और विज्ञान

(काफिर नजरिए से...)

डॉ. शंकर शरण

'यथावत' पत्रिका
अप्रैल-अक्तुबर 2020

बीते दिनों दिल्ली में हुआ दंगा साधारण घटना नहीं है। इस बार के दंगे से एक संकेत उभरता है। देश की राजधानी में दंगे पहले भी हुए। पुरानी दिल्ली में होते रहे दंगों ने 1950 के बाद पूर्वी दिल्ली को भी अपनी जद में ले लिया। इस बार तो जिस ढंग से और जिस समय यह दंगा उभरा, स्पष्ट होता है कि ये हिंदू-मुस्लिम संघर्ष का परिणाम नहीं था। इसके पीछे एक राजनीतिक सोच काम कर रही थी। लेखक ने इसे 'राजनीतिक इस्लाम' कहा है।
इस लेख श्रृंखला पर पाठकों की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

-संपादक

काफिर नजरिए से

दंगों का सिद्धांत, गणित और विज्ञान

मानवता, मनुष्य, देश, सरकार, समाज, नैतिकता, कानून, खान-पान, संस्कृति, रिवाज, विचार, घटना, आदि किसी चीज पर इस्लाम में कोई सार्वभौमिक या मानवतावादी नजरिया नहीं है। वे निरपवाद रूप से प्रत्येक चीज को इस्लामी नजरिए से देखते, और अपना रुख तय करते हैं। दुर्भाग्य से, काफिर लोग इस के प्रति अचेत रहते हैं।

शंकर शरण

भारत में दंगों का यह विश्लेषण काफिर दृष्टि से किया जा रहा है। हिन्दू-मुस्लिम दंगों पर प्रायः तटस्थ दृष्टि से विचार-विमर्श की प्रवृत्ति रही है, जो दोषपूर्ण और हानिकारक साबित हुई है। इसके बदले यदि मुस्लिम नजरिये और काफिर नजरिए से अलग-अलग विश्लेषण को स्थान दिया जाए, तो वास्तविकता समझना और समाधान का मार्ग पाना संभव होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है कि मुस्लिम पक्ष तो यह करता ही रहा है। केवल काफिर पक्ष लुप्त रहता है, बल्कि उस का जबरन लोप किया जाता है। मानो, हर विषय में मुस्लिम पक्ष तो होता है, पर काफिर पक्ष होता ही नहीं। इसी प्रवंचना ने पिछले सौ साल से भारतीय राजनीति, शिक्षा नीति को भ्रष्ट और भ्रमित कर रखा है।

सच है कि इस्लामी सिद्धांत की मूल दृष्टि वर्ग-विभाजन है। मोमिन-काफिर, दारुलहरब-दारुलइस्लाम, जायज-नाजायज आदि। यानी केवल धर्म, ईश्वर ही नहीं, सभ्यता या जीवन की सभी चीजें दो भागों में बंटी हैं। मानवता,

मनुष्य, देश, सरकार, समाज, नैतिकता, कानून, खान-पान, संस्कृति, रिवाज, विचार, घटना आदि किसी चीज पर इस्लाम में कोई सार्वभौमिक या मानवतावादी नजरिया नहीं है। वे निरापवाद रूप से प्रत्येक चीज को इस्लामी नजरिए से देखते और अपना रुख तय करते हैं। दुर्भाग्य से, काफिर लोग इसके प्रति अचेत रहते हैं। फलतः तमाम मुस्लिम दावों, आंदोलनों, मांगों आदि में अपनी स्थिति, काफिर की स्थिति, पर गफलत में रहते हुए, वही सब दोहराने लगते हैं, जो मीडिया कह रहा है। इससे उन पर दोहरी चोट पड़ती है। या कहें कि वे अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मारते रहते हैं।

दिल्ली में हुए हालिया दंगे के तथ्य बिल्कुल साफ हैं। दिल्ली में काफिर(हिन्दू) विरोधी दंगे बहुत पहले शुरू हुए। जब जामिया मिल्लिया विश्वविद्यालय में बसें जलाई गईं। जब जाफराबाद में रईस बम लेकर निकला। जब लुकमान ने शाहीनबाग में बंदूक लहराई। जब वारिस पठान ने गृह-युद्ध की धमकी दी। इन का नागरिकता कानून के विरोध या लोकतंत्र से कुछ संबंध नहीं था। वह मूलतः ताकत का प्रदर्शन करके जिम्मियों (मुस्लिम समर्थक गैर-मुस्लिम) के सहयोग से, इस्लामी राजनीति को एक या चार कदम, जो संभव हो, बढ़ा सकने का दांव था। इसे स्थानीय मुसलमान नहीं, बल्कि भारत-विरोधी, कश्मीरी अलगाववादी, अमेरिका-विरोधी और पाकिस्तान-समर्थक चला रहे थे। कई सप्ताह तक कुछ ऐसा ही चला।

जब दो-तरफा चोट शुरू हुई, तब जाकर सामुदायिक संतुलन गढ़ने, दो-तरफा दोष मढ़ने के लिए तरह-तरह के प्रचार, कारस्तानियां की जाने लगीं। अमेरिकी अखबार वॉल स्ट्रीट जर्नल द्वारा दिल्ली दंगों पर विकृत रिपोर्टिंग, उसका एक उदाहरण मात्र है। जिसने अंकित शर्मा के जिहादियाना कत्ल को हिन्दुओं द्वारा किया गया जैसा संकेत किया! वह भी, अंकित शर्मा के भाई से इंटरव्यू लेने के बाद। फिर स्क्रॉल-इन और कुछ अन्य अखबारों ने भी मुस्लिम भीड़ द्वारा हमले करने की तस्वीर देते हुए भी उसे 'हिन्दू मॉब' की संज्ञा देकर समाचार पेश किया। जब यह धोखा-धड़ी उजागर की गई तो उसने अपनी वेबसाइट से तस्वीर हटा दी। यानी सबूत गायब कर दिया, लेकिन झूठा प्रचार वैसे ही रहने दिया! मीडिया में हिन्दू-विरोधी बयानों एवं इंटरव्यू की प्रस्तुति में साथ ही किसी हिन्दू का भी बयान या इंटरव्यू नहीं दिया गया। केवल एक पक्ष रखा गया।

सोशल मीडिया के मालिक व संपादकों ने भी लंबे समय से प्रायः हिन्दू-विरोधी और भारत-विरोधी झुकाव ही रखा और प्रोत्साहित किया है। जबकि इस्लामी संवेदनाओं पर वे बेलाग सहानुभूति दिखाते हैं। इस प्रकार, निष्पक्ष मंच न देकर अपना राजनीतिक मत थोपने की नीति रखते हैं। यही वीकीपीडिया में भी है, जिस में हिन्दू-विरोधी विचारों के प्रति उदारता, लेकिन हिन्दू-पक्षी विचारों पर नियंत्रण रखा जाता है। दुर्भाग्यवश, उनसे इस पर गंभीरता से बात करने वाला कोई समर्थ प्रतिनिधि या नेता काफिरों के पास नहीं है। यदि होता तो इसमें कुछ सुधार हो सकता था। क्योंकि यूरोपीय, अमेरिकी व्यक्ति प्रायः सही स्थिति को स्वीकार करने वाले होते हैं, यदि उन्हें वह प्रमाणिक रूप से दिखाई जाए।

दिल्ली दंगे इस्लामी स्टेट के एजेंटों द्वारा प्रोत्साहित और संभवतः निर्देशित भी किए गए। जिन लोगों ने काफिरों (हिन्दुओं) को दोष दिया था, उन्हें अब समझना चाहिए कि वे झूठे आरोप लगा कर जिहादी आतंकियों को ही मदद पहुंचाते हैं। यह सच है कि कई पश्चिमी समाचार एजेंसियां भारत और हिन्दुओं के विरुद्ध यह लंबे समय से करती रही हैं। लेकिन उनके वैचारिक एवं समाचार स्रोत प्रायः भारतीय लिबरल-वामपंथी होते हैं। अभी, दिल्ली के घटनाक्रम में भी वही देखा गया। अंग्रेजी भारतीय मीडिया के अनुकरण में ही बाहरी, अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने झूठे या विकृत विवरण, चित्र, विश्लेषण आदि परोसे। उसी तरह, वीकीपीडिया में भी हुआ, जिसने गलत जानकारियों को सुधारने के प्रयास को रोका। आखिर, कपिल मिश्रा के एक मामूली बयान को शरजील इमाम और वारिस पठान के उगले जहर जैसा हानिकारक या उनसे भी बुरा बताने का काम किस ने किया? यहीं के राजनीतिकों और अंग्रेजी मीडिया के एक हिस्से ने। मानो, हिन्दुओं को अपने अधिकारों, घरों, स्त्रियों, बच्चों की रक्षा नहीं करनी चाहिए। विशेषकर, जब प्रशासन ने आंखें मूंद ली हों और मान लिया हो कि शाहीनबाग जैसे इलाके मुस्लिम गिरोह कब्जा कर लें, आस-पास की कॉलोनियों का जीवन बाधित कर दें तो इस पर प्रशासन को कुछ नहीं करना है! ऐसी लज्जास्पद, शुतुरमुर्गी नीति एक अलग विषय है।

> **अंगेजी भारतीय मीडिया के अनुकरण में ही बाहरी, अंतरराष्ट्रीय मीडिया ने झूठे या विकृत विवरण, चित्र, विश्लेषण आदि परोसे। उसी तरह, वीकीपीडिया में भी हुआ, जिस ने गलत जानकारियों को सुधारने के प्रयास को रोका। आखिर, कपिल मिश्रा के एक मामूली बयान को शरजील इमाम और वारिस पठान के उगले जहर जैसा हानिकारक, या उन से भी बुरा बताने का काम किस ने किया?**

यह जगजाहिर है कि आम मुसलमानों के बीच ही जिहादी और आतंकवादी गुटों के लोग अपनी सुरक्षित जगह बनाते हैं। चाहे उन्हें आश्रय देने वाले कुछ अदद मुसलमान उन्हें जानते हों या नहीं या चाहते हों या नहीं। उन्हीं जिहादियों ने शाहीनबाग और कुछ और जगहों पर विविध इलाकों को अपना बंधक बना लिया। उन्हें बखूबी मालूम है कि हिन्दू लोग शान्तिप्रिय, प्रायः हिंसा से बचने वाले, असंगठित और नेतृत्वहीन हैं। हिन्दुओं के सगे नेता कोई नहीं हैं। जो दूर के नेता हैं भी, वे हर संकट के मौके पर उन्हें अपने हाल पर छोड़ देते हैं। शाहीनबाग में भी यही हुआ। यह जम्मू-कश्मीर के हिन्दुओं वाली स्थिति का ही लघु संस्करण, छोटा सा दोहराव था।

तब दंगे करने वाले, आक्रामक कौन हैं? जैसा प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान पंडित वामदेव शास्त्री (डेविड फ्रॉले) ने पूछा, कौन संस्कृति अधिक आक्रामक, विस्तारवादी और झगड़ालू-लड़ाकू है- हिन्दू या इस्लामी? यदि हिन्दू व इस्लामी प्रवासियों की तुलना करें तो विश्व स्तर पर ऐतिहासिक रिकॉर्ड क्या दिखाता है? पाकिस्तान में हिन्दुओं का क्या हुआ? दिल्ली दंगों के संभावित पीड़ित कौन हैं? दरअसल, काफिरों को तात्कालिक घटनाओं, हिंसा आदि की तुलना में सदैव इसी मूल प्रश्न पर विचार करना चाहिए। उन्हें भी, जिन्हें मुगालता है कि वे 'निष्पक्ष' हैं और सांप्रदायिक सदभाव चाहते हैं।

पंडित वामदेव ठीक ही कहते हैं कि भारत में जिहादी आतंकी हमलों के इतिहास व इस्लामी स्टेट की गतिविधियों के मद्देनजर हिन्दुओं को विलेन या आक्रामक चित्रित करना एक पाखंड है। दिल्ली दंगे भी वैश्विक इस्लामी एजेंडे का हिस्सा है, जिसका केंद्र पाकिस्तान है और जिसने लंबे समय से भारत को निशाने में शामिल रखा है। आखिर, भारत की संसद को यह नीति तय करने का अधिकार है कि

ये इस्लाम के गैर मुस्लिम सहायक!

बहरहाल, धीरे-धीरे दिल्ली के दंगाइयों के जिहादियों और माओवादियों से संबंध खुलने लगे। उदाहरण के लिए, अमेरिकी राष्ट्रपति की यात्रा के दौरान बड़ा उत्पात करने की भारी तैयारी। ऐसा विचार सामान्य लोगों का नहीं, बल्कि राजनीतिक रणनीतिकारों का होता है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि जब एक जाने-माने गांधीवादी, जो मुसलमानों के साथ वर्षों से काम करते रहे हैं, उन्होंने जब शाहीनबाग के भारी ताम-झाम के खर्च के बारे में पूछा, तो उन्हें फौरन गालियां मिलने लगीं। ऐसा साधारण लोग नहीं करते, बल्कि अपनी मदद करने वाले के बारे में कृतज्ञता से बताते हैं।

दूसरा प्रमाण, दंगे करने के लिए मुसलमानों को तुरंत सड़क पर उतारने की तैयारी, पुलिसवालों को खुले आम धमकाना, छतों पर पत्थरों और देसी हथियारों का जखीरा जमा करना, आदि। ऐसा कैसे हुआ कि तथाकथित शांतिपूर्ण और स्वतःस्फूर्त विरोध करने वालों के पास पुलिस पर हमला करने के लिए भारी मात्रा में पत्थर पहुंच गए? साफ है कि उन्हें इस काम के लिए प्रशिक्षण, हथियार और पैसे दिए गए। यह सब सामने आने पर लुटियन मीडिया के प्रगल्भ लोग चुप ही रहे। लेकिन उन्होंने अपनी गलती नहीं सुधारी, केवल चुप्पी ओढ़ ली। इन्हीं को इस्लामी भाषा में जिम्मी, यानी इस्लाम के गैर-मुस्लिम सहायक, कहा गया है।

ऐसे जिम्मी लोग यहां जिहादियों से भी अधिक घातक भूमिका निभाते हैं। एक तो, सामान्य लोगों को भ्रमित करना। दूसरे, जिहादियों को आड़, समर्थन देना, जिससे उनका दुस्साहस, उग्रता बढ़ जाती है। तीसरे, विदेशियों को गलत सूचना देकर देश की छवि बिगाड़ना। चौथे, पहले से ही डगमग राजनीतिक नेताओं को और कमजोर करना। चूंकि यहां ऐसे जिम्मी बौद्धिक, प्रोफेसर, पत्रकार, और विविध प्रकार के एक्टिविस्ट हिन्दू समाज के ही वामपंथी, सेक्यूलर, गांधीवादी, आदि होते हैं इसलिए आम हिन्दू इन्हें अपना वैसा शत्रु नहीं समझते, जैसा वे जिहादियों को समझते हैं। इसीलिए परिणामतः इनकी भूमिका बहुत ही घातक हो जाती है।

बाहरी शरणार्थियों में किसे आने दिया जाये और किसे नहीं। इससे मौजूदा नागरिकों के हितों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तब इससे किसे चोट पहुंच रही थी? निःसंदेह, इस्लामी राजनीति को जिसकी जन-सांख्यिकी प्रभुत्व द्वारा अंततः इस्लामी राज्य बनाने की योजना कई बार घोषित की जाती रही है। सिर्फ उसे लगा कि इस कानून से उसकी योजनाओं को कुछ बाधा हो सकती है।

सवाल है कि इस विरोध में आम भारतीय मुसलमानों को कैसे शामिल कर लिया गया, जिसे नागरिकता कानून से कोई हानि नहीं हो रही थी? इसका कोई एक उत्तर नहीं है। सब से पहले तो असंख्य मुसलमानों को बरगलाया गया कि उनके साथ अन्याय हो रहा है। उनकी नागरिकता छीनी जा रही है या उसकी तैयारी है। कुछ सचेत इस्लामी मुसलमान भी हैं जो जिहादी मानसिकता में, इस्लाम के लिए ऐसे हर देशी-विदेशी अभियान को मदद देते हैं, जिससे इस्लामी वर्चस्व की ओर बढ़ने में कुछ वृद्धि हो। यह कोई नई बात नहीं है। इस्लामी सिद्धांत ही यही है। इसीलिए सचेत मुस्लिम सैदव अंतरराष्ट्रीय उन्माद के लिए खड़े होते हैं, अपने देश के लिए नहीं। क्योंकि यही राजनीतिक इस्लाम का सिद्धांत है। यही वह मतवाद है जिसके वे अनुयायी हैं। इस सिद्धांत में छल और धोखाधड़ी की भी खुली अनुशंसा की गई है। यह अनुशंसा कि काफिरों को भरमाना, उनसे झूठ बोलना, उन पर झूठे आरोप लगाना जायज है। इसीलिए कई मुस्लिम बुद्धिजीवी वास्तविकता जानते हुए भी एकतरफा या झूठा प्रचार करते हैं।

जैसा डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भी नोट किया था, 'मुसलमान के लिए तो जहां इस्लामी शासन है, वही उसका देश है।' दूसरे शब्दों में, इस्लाम सच्चे मुसलमान को कभी इजाजत नहीं दे सकता कि वह भारत को मातृभूमि स्वीकार करे और किसी हिन्दू को अपना बंधु-बांधव समझे। यह कोई अपवाद अवलोकन नहीं था। कांग्रेस की अध्यक्ष रही विदुषी एनी बेसेंट ने ठीक सौ साल पहले कहा था, 'हम यह मानने के लिए मजबूर हैं कि मुसलमानों का मुख्य लगाव मुस्लिम देशों से है, मातृभूमि से नहीं। ... वे अच्छे और विश्वसनीय नागरिक नहीं हो सकते। ... स्वतंत्र भारत में मुस्लिम आबादी स्वतंत्रता के लिए एक खतरा होगी।' इन विचारों पर काफिरों को गंभीरता से चिंतन-मनन करना चाहिए। क्योंकि यह बार-बार, विभिन्न देशों, परिस्थितियों, कालों में बिल्कुल एक जैसे प्रमाणित होते रहे हैं।

उन्हीं अवलोकनों की पुष्टि करते हुए हाल में दिल्ली में हर कहीं मुसलमानों के प्रदर्शन में ठसक से 'ला इलाहा लिलल्लाह...' के नारे लगाए गए, जिसमें काफिरों से घृणा निहित है। उस नारे की बुनियादी प्रतिज्ञा यही है कि अल्लाह और प्रोफेट मोहम्मद के सिवा किसी की परवाह मुसलमानों को नहीं करनी है। गैर-मुसलमानों को घृणित, हीन, भ्रमित या दुष्ट समझना है, जिन्हें आज न कल या तो इस्लाम स्वीकार करना है अथवा खत्म किया जाना है। वस्तुतः ऐसे बयान देते हुए मुस्लिम नेताओं के बयान भी इस दौरान आए। एक मौलाना कैमरे पर बोल रहे थे, 'हम मुसलमान भारत को हिन्दुओं से खाली कर के हिन्दुस्तान में उन का नामोनिशान मिटा देंगे।' इस मानसिकता का इस्तेमाल करके ही इस्लामी नेता सांप्रदायिक उन्माद भड़काते हैं। वारिस पठान या असदुद्दीन ओवैसी ही नहीं, अनेक बड़े मुस्लिम नेता दशकों से ऐसी बातें समय-समय पर बोलते रहे हैं। उन बयानों का किन्हीं तात्कालिक घटना से नहीं, बल्कि इस्लामी सिद्धांत से संबंध है। बाकी चीजें केवल सहायक रूप में उपयोग की जाती हैं।

अतः पहले काफिरों को ठीक से समस्या को समझना चाहिए। अधीरता में, या भय, अथवा अज्ञानवश फौरन कोई तात्कालिक सामाधान की आशा, उसका मोह त्याग देना चाहिए। अपने दूर के नेताओं पर भी भरोसा करके निश्चिंत नहीं रहना चाहिए। वरना वे पंजाबियों, बंगालियों, कश्मीरियों, केरलीयों की तरह मारे जाते रहेंगे!

भारत दशकों से जिहाद और राजनीतिक इस्लाम की चोट आतंक झेलने वाला प्रमुख

देश है। पश्चिमी पंजाब, सिंध, जैसे कई हिस्सों (पाकिस्तान) में हिन्दू लगभग खत्म कर दिए गए। पूर्वी बंगाल (बांग्लादेश) में भी उनकी संख्या मूल प्रतिशत की तीन चौथाई खत्म हो गई। बचे भारत में भी इरादा वही है। जिसके लिए कश्मीर से केरल तक विविध कोशिशें चलती रही हैं। उसी क्रम में, दिल्ली की हिंसा भी जिहादियों की उकसाई हुई थी जिसके मुख्य शिकार हिन्दू थे।

हमारे जिन महानुभावों ने कभी अफजल गुरु और बुरहान वानी तक को आतंकवादी नहीं माना, वे कपिल मिश्रा को आतंकवादी बताने लगे। जो याकूब मेनन, उमर खालिद और शरजील इस्लाम को रिहा करवाने कोर्ट जाते हैं, उन्होंने कपिल मिश्रा को गिरफ्तार करने की मांग की। ऐसे लोग विशुद्ध जिम्मी, इस्लाम के सहयोगी हैं। इन्हें कभी भी सांप्रदायिक सौहार्द के चिन्तक नहीं माना जा सकता है। उन्होंने जान-बूझकर इस तथ्य से आंखें मूंद रखी हैं, कि भारत में मुसलमान की तुलना में पाकिस्तान में हिन्दू दशकों से अत्यधिक दमित हैं। पर उन हिन्दुओं को कोई सहानुभूति न मिली। भारत में भी हिंसक वारदातों, आतंकी हमलों और दंगों की खबरों में हिन्दू मौतें उपेक्षित रहती हैं। आखिर क्यों मीडिया में हिन्दू जान की कोई कीमत नहीं मानी जाती? यह क्या हिन्दू-विरोधी मानसिकता नहीं है?

भारत में वामपंथी पत्रकारों ने लंबे समय से आक्रामक और विघटनकारी प्रदर्शनों को टकराव की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया है। वे संयत विरोध को नहीं, बल्कि हिंसा को बढ़ावा देते हैं। विशेषकर जब वह हिन्दुओं या सरकार के विरुद्ध हो। इसीलिए वे दिल्ली दंगों के साफ तथ्यों को भी हर हाल में चुनौती देते हैं। संदेह करते हैं। वास्तविकता यही है कि अधिकांश हिन्दू-मुस्लिम दंगों की तरह, हालिया दिल्ली दंगे भी मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं का सफाया करने जैसे उन्माद से शुरू हुए। हिन्दू पुलिस वाले की लोमहर्षक तरीके से हत्या में वही उन्माद था।

ऐसा सोचना बड़ी भूल है कि किसी हिन्दू बहुल शहर, वह भी दिल्ली जैसी राजधानी में कोई मुसलमान 'हिन्दुओं के सफाए' की कैसे सोच सकते हैं? यह याद रखना चाहिए कि उनके विचार-तंत्र में, मूल सिद्धांतों में ही यह बात बार-बार दुहराई गई मिलती है कि काफिरों पर मुसलमान दस गुना भारी पड़ते हैं। कुरान में है, *'ऐ नबी! ईमान वालों को लड़ाई पर उभारो। यदि तुम में से बीस जमे रहने वाले होंगे तो वे दो सौ को काबू कर लेंगे। और यदि तुम में से सौ हों तो वे एक हजार काफिरों पर भारी रहेंगे क्योंकि वे (काफिर) ऐसे लोग हैं जो समझ नहीं रखते।'* (8/65) ऐसी बातों से इस्लामी मूल किताबें भरी पड़ी हैं। यही नहीं, इस्लामी इतिहास में इसकी सफलता भी अनेकानेक स्थानों पर देखी गई है। फारस, मेसोपोटामिया, कौंस्टेंटीनोपुल, अफगानिस्तान, आदि कई स्थानों पर यही तो हुआ। यही सिद्धांत और इतिहास राजनीतिक इस्लाम कहा जाता है, जो मुसलमानों को निर्देशित करता है। इसे नजरअंदाज करके सारी व्याख्याएं घोर आत्मप्रवंचना हैं।

किसी भी आक्रामक मुस्लिम दंगे में कमोबेश उपर्युक्त भावना रहती ही है। यह उन के नारों, पर्चों, बयानों का कथ्य और भाषा कई बार साफ-साफ दिखाती भी है। अधिकांश दंगों में बेचारे हिन्दू एकतरफा मारे जाते हैं। मीडिया और राजनीतिक दल उसे रफा-दफा कर देते हैं। प्रायः खबर भी गोल-मोल देते हैं, जैसे '24 मरे' या '59 जले'। कौन मरे, किस ने मारा, कौन जले, किस ने जलाया? इसे गायब कर दिया जाता है। न समाचार देने के समय, न ही बाद में। इसलिए प्रायः काफिर एकतरफा मारे जाते हैं। यही स्वतंत्र भारत के दंगों का भी इतिहास है। केरल या कश्मीर या अनेक छोटे-छोटे इलाकों में हिन्दू आबादी ऐसे ही नहीं घटती गई है। उसकी एक सुनिश्चित प्रक्रिया है।

जब किसी जगह पर मुस्लिम हमले के बाद कोई हिन्दू प्रतिक्रिया नहीं होती (मराड, किश्तवाड़, कैराना आदि हाल के कुछ उदाहरण हैं) तब वहां मुस्लिम दबाव, दबंगई बढ़ने लगती है। उनके द्वारा जान-बूझकर की जाती छेड़छाड़, अपमान और आतंक से धीरे-धीरे हिन्दू वह जगह, मुहल्ले, गांव, बस्ती छोड़ने लगते हैं। क्योंकि प्रशासन कुछ नहीं करता। इसलिए भी, क्योंकि कुछ करने पर प्रशासन को ऊपरी, राजनीतिक शासकों द्वारा प्रायः उलटे व्यवहार का अनुमान रहता है। इस प्रकार, एक और मुहल्ला, रोड, क्षेत्र 'मुस्लिम इलाका' बन जाता है। वहां उन्हीं का, शरीयत का राज चलता है। वे इलाके इस्लाम के गढ़, किले में बदल जाते हैं। जहां पुलिस भी नहीं जाती। फिर वे उसे आगे दोहराने, अगले दंगे करने का मानो अधिकार पा लेते हैं। भारत में ऐसे सैकड़ों इलाके हैं।

जैसा कि कभी-कभी होता है, दिल्ली दंगे में हिन्दुओं ने भी जवाबी वार शुरू कर दिया। ऐसी प्रतिक्रिया का फल अंत में अधिक मुसलमानों की मौत होता है। जैसे, 2002 में गुजरात में हुआ था। वह अयोध्या से लौट रहे 59 हिन्दू स्त्री-बच्चे-पुरुष तीर्थयात्रियों को साबरमती एक्सप्रेस ट्रेन में जिंदा जला देने के बाद हुआ था। तब दंगों के अंतिम हिसाब में हिन्दू कम और मुस्लिम अधिक मारे गए थे। फिर सारी लानत-मलानतों, बौद्धिक बहसों, और अंतरराष्ट्रीय भर्त्सनाओं में भी मूल घटना वह शुरूआती हिन्दू-दहन लुप्त हो गया। केवल 'मुस्लिम-विरोधी दंगा' विषय बनाया गया। जैसा कूनराड एल्सट ने टिप्पणी की, कि *यह कहना ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि द्वितीय विश्व-युद्ध को चर्चिल के ब्रिटेन ने शुरू किया था, क्योंकि अंतिम गिनती में हिटलर की जर्मन फौज के अधिक लोग मारे गए।*

दंगों का मनोविज्ञान और विज्ञान (काफिर नजरिए से)

लाहौर से बंगलौर तक

कुछ नहीं बदला

स्वतंत्र भारत में कश्मीर से केरल और नगालैंड से लेकर गुजरात, उत्तर प्रदेश तक, यदि किसी को सामूहिक अपमान, विस्थापन और संहार का सामना करना पड़ा था तो वह हिन्दू समुदाय है। लेकिन हिन्दू नेता इसे कभी मुद्दा बनाकर उपाय करने पर जोर देने के बजाए, सब कुछ छिपाकर अपने–अपने दलीय या गुटीय हित देखने में लगे रहते हैं। फलत: हिन्दू धर्म–परंपरा, रीति–रिवाज का बौद्धिक उपहास, अपमान आदि चलता रहता है। महान ग्रंथ मनुस्मृति को भारत में ठसक से जलाया जाता है। मगर कोई हिन्दू नेता इस का नोटिस तक नहीं लेता।

शंकर शरण

ठीक सौ साल पहले, 1920 में लाहौर में मुसलमानों की ओर से दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जो भगवान कृष्ण और महर्षि दयानन्द सरस्वती पर आक्षेप करती थीं। एक थीः 'कृष्ण तेरी गीता जलानी पड़ेगी', और दूसरीः 'बीसवीं सदी का महर्षि'। दोनों पुस्तकों की भाषा बड़ी गंदी थी और हिन्दू धर्म पर घृणित प्रहार थे। तब उत्तर में एक आर्यसमाजी विद्वान ने 'रंगीला रसूल' नामक पुस्तक लिखी, जिस में प्रोफेट मुहम्मद के जीवन का तथ्यपूर्ण वर्णन था, जो मूल इस्लामी स्रोतों से ही लिया गया था। पुस्तक के लेखक अपना नाम नहीं देना चाहते थे, पर मुसलमानों द्वारा प्रकाशित उन पुस्तकों का उत्तर देना भी आवश्यक था। तब उन्होंने उस समय के प्रतिष्ठित प्रकाशक महाशय राजपाल से निवेदन किया (उन्हीं राजपाल की यशस्वी संतानों ने विभाजन बाद दिल्ली आकर 'राजपाल एंड सन्स' और 'हिन्द पॉकेट बुक्स' की स्थापना की)। तब राजपाल जी ने लेखक के स्थान पर ''दूध का दूध, पानी का पानी'' दे कर पुस्तक छापी।

पुस्तक प्रकाशन के बाद कुछ क्रोधित मुस्लिमों ने राजपाल जी से लेखक का नाम बताने को कहा, वरना उन्हीं को मारने की धमकी दी। परन्तु राजपाल ने लेखक को दिया वचन नहीं तोड़ा। उन्हें धमकियाँ मिलने लगीं। उन पर 1926 में खुदाबख्श नामक एक व्यक्ति ने छुरे से हमला किया। संयोगवश उसी समय आर्य समाज के संन्यासी स्वामी स्वतंत्रानन्द उधर से गुजर रहे थे, और राजपाल से मिलने दुकान पर आ गए। उन्होंने राजपाल को बचाया। खुदाबख्श पकड़ा गया और उसे सात साल की जेल हुई। राजपाल तीन महीने अस्पताल में रह कर ठीक हुए। कुछ समय बाद, फिर एक मुसलमान ने दुकान पर संयोग से बैठे स्वामी सत्यानन्द को ही राजपाल समझ कर छुरे से हमला किया। वह भी पकड़ा गया, और उसे जेल हुई। सत्यानन्द भी दो महीने अस्पताल में रहे।

इस बीच महात्मा गाँधी ने अपने अखबार 'यंग इंडिया' में राजपाल के खिलाफ बड़ा उत्तेजक लेख लिखा। जिस में यह भी था कि, ''एक तुच्छ पुस्तक विक्रेता ने कुछ पैसे बनाने के लिए इस्लाम के पैगम्बर की निन्दा की है, इस का प्रतिकार होना चाहिए।'' उस लेख में गाँधीजी की भाषा इतनी घटिया थी कि वीर सावरकर, डॉ. अंबेदकर समेत देश के कई बड़े लोगों ने उस की निन्दा की। महाशय राजपाल जैसे अत्यंत सम्मानित व्यक्ति के लिए क्षुद्र बातें लिखने के लिए। साथ ही, पूरे प्रसंग पर एकतरफापन दिखाने और मुसलमानों को भड़काने के लिए।

उस के बाद राजपाल के खिलाफ फिर नए फतवे आने लगे, जिसमें गाँधीजी के प्रेम-पात्र मौलाना मुहम्मद अली का दिल्ली की जामा मस्जिद से एक बड़ा उग्र भाषण भी था। तब 6 अप्रैल 1929 को तीसरी बार फिर दुकान पर ही राजपाल पर इलमदीन नामक व्यक्ति ने छुरे से हमला किया। जिस से उन का प्राणांत हो गया। इस के बाद लाहौर में एक लाख लोगों का शान्ति-जुलूस निकला, और सभी गणमान्य लोगों ने राजपाल को भूरि-भूरि श्रद्धांजलि दी।

उस ऐतिहासिक घटना का मूल सार

बार-बार दोहराया जाता है। अभी बंगलौर में कुछ वही हुआ। भगवान कृष्ण पर ही गंदी टिप्पणी के विरुद्ध एक हिन्दू लड़के ने प्रोफेट मुहम्मद के बारे में एक तथ्यगत बात ही रखी। जिसके विरुद्ध एक मुस्लिम भीड़ ने दंगा, आगजनी की। दो पुलिस थाने ध्वस्त कर दिए, क्योंकि पुलिस ने उन्हें हिंसा करने से रोकने की कोशिश की।

नोट करें, कि लाहौर से बंगलौर तक गत 100 सालों में हिन्दुओं की स्थिति पहले से खराब होती गई है! केंद्र और राज्य में भाजपा सरकार है, जिसे हिन्दू-हितू कहा जाता है। परन्तु मुसलमानों का दबदबा सौ साल पहले के लाहौर से बहुत अधिक बढ़ चुका है। तब लाहौर में कोई बड़ा उत्पात नहीं हुआ था। दो-दो बार कातिलाना हमला झेल कर भी महाशय राजपाल 9 वर्षों तक बिना किसी सुरक्षा के अपनी दुकान चलाते रहे थे। हर बार हमलावर मुस्लिम पकड़ा गया, जिसे सरकार ने कड़ा दंड दिया। इलमदीन को भी फाँसी हुई थी। उस पर मुसलमानों ने कोई आक्रोश नहीं जताया। यही नहीं, राजपाल के लिए असंख्य मुसलमानों में भी सम्मान था। उन्हें व्यापक रूप से श्रद्धांजलि दी गई थी। राजपाल की पहली जीवनी उन के मित्र रहे अब्दुल रहीम ने लिखी थी। आज कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि प्रोफेट की व्यक्तिगत आलोचना प्रकाशित करने वाले के लिए कोई खड़ा होगा, जबकि भगवान राम और भगवान कृष्ण पर मुसलमान नेता भी खुले आम गंदी बातें कह सकते हैं।

इसे समझने की जरूरत है। यह अपने-आप में एक घटना नहीं है, बल्कि इस्लामी राजनीतिक लक्ष्य के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला एक उपाय भर है। वह लक्ष्य हैः इस्लामी सत्ता कायम करना। दूसरों के धर्म, देवता, आदि को लांछित करना, खत्म करना उस का एक साधन मात्र है। जैसे कि आंतक, हिंसा, झूठे प्रचार, आदि भी साधन हैं। यह शरीयत लागू करने का दबाव है कि दूसरे तो इस्लामी प्रोफेट पर कुछ नहीं कह सकते, लेकिन मुसलमान हिन्दू देवी-देवताओं पर चोट करेंगे। इस बीच, राजसत्ता के लोग बगलें झाँकते, शरीयत को विशेष आदर देकर हालात को इस्लामियों के अनुकूल बनाते हैं।

यही भाँप कर मुसलमान दूसरों के धर्मों और 'काफिरों' के बारे में ऊल-जुलूल बातें बोलते रहते हैं। यदि उन्हें पता हो कि राजसत्ता उन्हें जेल में बंद कर देगी, तो वे ऐसा नहीं करते। किन्तु उन्हें हमारे नेताओं के अज्ञान और मोह का पूरा अंदाजा है। इसीलिए छोटे ओवैसी, अकबरुद्दीन का एक बड़ी सार्वजनिक सभा में भगवान राम और माता कौशल्या पर बेहूदी बातें कहते हुए वीडियो वर्षों से प्रचलित है। उस पर कोई कार्रवाई तो क्या, खुली भर्त्सना तक नहीं की गई। इस बीच, सौ साल पहले लाहौर के आर्यसमाजी शिक्षक की तरह कोई हिन्दू आहत होकर इस्लामी ग्रंथों में ही मुहम्मद के बारे में लिखी प्रामाणिक बातें भी कहकर उत्तर दे, तो बंगलौर जैसा दंगा होता है। तब, हमारे राजनीतिक-बौद्धिक या तो चुप रहते हैं या गाँधीजी की तरह मुसलमानों का पक्ष लेते हैं।

दो व्यवहार पद्धतियाँ

इस प्रकार, पिछले सौ साल से यहाँ दो व्यवहार पद्धतियाँ मुस्लिम और राष्ट्रीय देखी जा रही हैं। जिन के कारण एक बार देश को विभाजन में भी धकेला जा चुका। राष्ट्रीय नेताओं ने करोड़ों हिन्दुओं को बिना नोटिस दिए कसाई के हवाले कर दिया। फिर भी कुछ नहीं सीखा, और बचे भारत में फिर वही दो व्यवहार पद्धति चालू रही। इतिहासकार सीताराम गोयल के शब्दों में, ''मुस्लिम व्यवहार पद्धति की विशेषता थी झगड़ालूपन, आरोप लगाना, शिकायत करना, माँगें रखना, भर्त्सना करना, और सड़क पर दंगे करना। राष्ट्रीय व्यवहार पद्धति की विशेषता थी चुपचाप स्वीकार कर लेना, सहमत हो जाना, खुशामद करना, छूट देना, कायरता दिखाना, आत्म-निन्दा, और आत्म-समर्पण।'' इसीलिए देश-विभाजन को बंद अध्याय नहीं समझा जा सकता। 1947 से पहले वाले वाला यह घातक व्यवहार आज भी चल रहा है।

ये दो व्यवहार पद्धतियाँ वर्तमान भारतीय राजनीति को समझने की कुंजी प्रदान करती हैं। मुस्लिम व्यवहार पद्धति अपने पुराने स्वरूप में रहने दी गई है। किसी भी बात पर सड़क पर दंगे किए जाते हैं, मामूली बहानों से, जैसा विभाजन से पहले होता था। मुस्लिम नेता, चाहे वे किसी भी मंच पर हों, वैसे ही आरोप लगाते रहते हैं। जैसे, मुस्लिम 'गरीब प्रताड़ित अल्पसंख्यक' हैं, वे 'क्रूर हिन्दू बहुसंख्या' की दया पर हैं, कि 'हिन्दू संप्रदायवाद' के सामने 'मुस्लिम जीवन, संपत्ति और सम्मान' सुरक्षित नहीं है, कि 'हिन्दू अंधराष्ट्रवाद' इस्लाम मजहब और संस्कृति के तमाम चिह्न मिटा देना चाहता है। ऐसी ही झूठी बातें पहले मुस्लिम लीग की शिकायती और दंगाई राजनीति थी। उस की मनगढ़ंत पीरपुर रिपोर्ट (1937) इसी का एक धूर्त नमूना था।

आरोप और शिकायतों के बाद ठोस माँगें आती हैं। पहले की ही तरह। जैसे कि, मुसलमानों को आबादी के हिसाब से आरक्षण मिलना चाहिए, और हरेक क्षेत्र व हरेक स्तर पर महत्व भी। विशेष कर प्रशासन और सशस्त्र बलों में। जैसे, ईमाम अब्दुल्ला बुखारी ने संसद व विधान सभाओं में मुसलमानों के लिए 20 प्रतिशत आरक्षण की माँग की थी। उन्होंने यह भी माँग की कि बाकी 80 प्रतिशत सीटों में भी वैसे उम्मीदवार हों, जिन के नामों को मुसलमान द्वारा

मुस्लिम व्यवहार पद्धति का अगला तार्किक और मनोवैज्ञानिक कदम निश्चित रूप से एक अलग निर्वाचक मंडल की माँग है। कुछ यह कह कर कि 'मिलीजुली जनता' द्वारा चुने गए प्रतिनिधि 'उन की शिकायतों को मजबूती से नहीं रख सकते'। चाहे उन में कुछ प्रतिनिधि मुसलमान ही क्यों न हों।

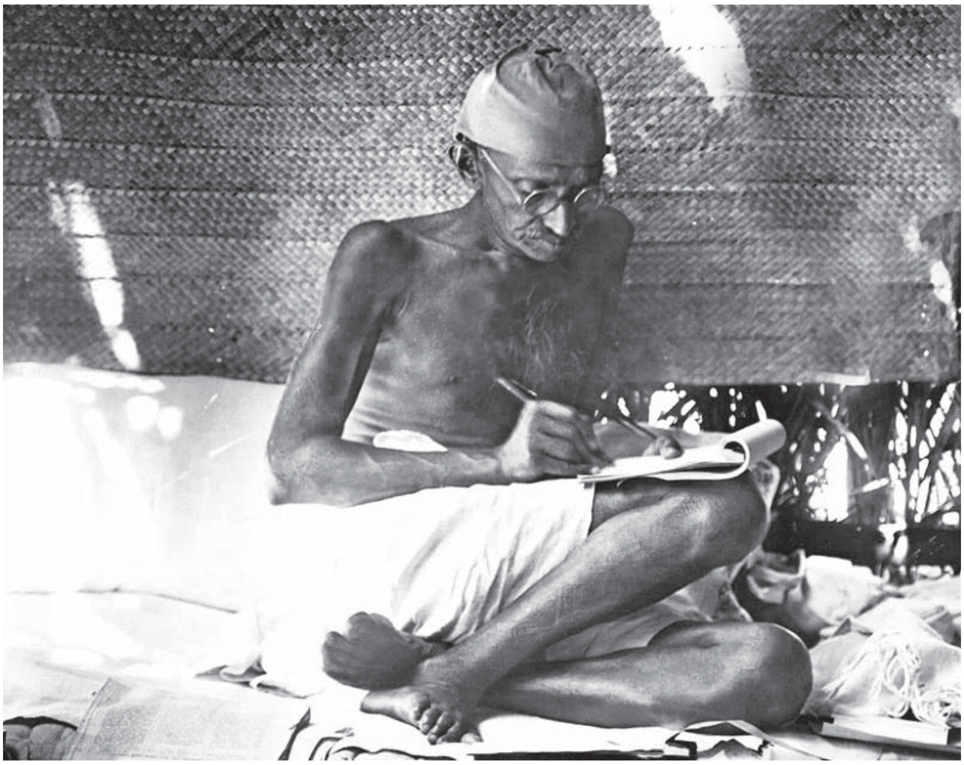

लाहौर वाली उक्त घटना में गाँधीजी ने हिन्दू धर्म-समाज के विरुद्ध मुसलमानों के प्रहार को, भगवान कृष्ण और महर्षि दयानन्द पर गंदे आक्षेपों को नोट करने लायक भी नहीं समझा था। दुर्भाग्यवश, तब से वही हिन्दू नेताओं का मानक बन गया।

स्वीकृति दे दी गई हो! वरना, ''मुस्लिम समुदाय न्याय पाने के लिए संघर्ष करने पर विवश हो जाएगा।'' बड़े बौद्धिक नेता सैयद शहाबुद्दीन ने कहा था, ''सोचकर हिल जाता हूँ कि जब मुस्लिम युवा अपना धैर्य खो कर सड़कों पर उतर आएंगे।'' हाल में उस से भी उग्र बयान दिल्ली मायनोरिटी कमीशन के अध्यक्ष जफरुल इस्लाम खान ने दिया, ''भारतीय मुसलमानों ने अभी तक (हिन्दुओं के) घृणा अभियान और लिंचिंग और दंगों की अरब व मुस्लिम दुनिया से शिकायत नहीं की है! जिस दिन वे ऐसा करने को मजबूर हुए, कट्टरपंथियों को जलजले का सामना करना पड़ेगा।'' (28 अप्रैल 2020)। यह समझना भारी भूल है कि ऐसी बयानबाजी और बात-बात में दंगे करना अलग-अलग चीजें हैं। यह सब एक ही व्यवहार-पद्धति के दो रूप हैं।

मुस्लिम व्यवहार पद्धति का अगला तार्किक और मनोवैज्ञानिक कदम निश्चित रूप से एक अलग निर्वाचक मंडल की माँग है। कुछ यह कह कर कि 'मिलीजुली जनता' द्वारा चुने गए प्रतिनिधि 'उन की शिकायतों को मजबूती से नहीं रख सकते'। चाहे उन में कुछ प्रतिनिधि मुसलमान ही क्यों न हों। फिर, समय के साथ, मुस्लिम वर्चस्व वाले जिले, क्षेत्र और राज्य बनाने का दबाव आता है। कई इलाकों में कमजोर हिन्दुओं के बीच दबाव, लालच आदि से धर्मांतरण करा कर, बंगलादेश से घुसपैठ करा कर, अधिक प्रजनन, आदि तरीकों से मुस्लिम बहुसंख्या बनाने का चक्र भी चालू है। फिर वे मुस्लिम बहुल इलाके स्वायत्त बनने के लिए शोर करेंगे, ताकि 'मुसलमान अपना भविष्य खुद तय कर सकें'। ये स्वायत्त इकाइयाँ सही समय का इंतजार करेंगी कि किसी विश्व-शक्ति की मदद से आजाद देश बना लें, अथवा पाकिस्तान या बंगलादेश से मिल जाएं। यह सब कुछ उन सब को दिख सकता है जो झूठे नारों, जुमलों या पार्टीबंदी से अंधे नहीं हो गए, अथवा राष्ट्रीय हित से भटक नहीं गए हैं।

देश में मुस्लिम व्यवहार के समक्ष राष्ट्रीय व्यवहार का नमूना भी पहले की तरह साफ देखा जा सकता है। उन खतरनाक इरादों, कामों का उत्तर राष्ट्रीय नेतृत्व कोरे नारों से देता है जो विभाजन से पहले भी दे-देकर स्थापित कर दिया था। यह मुस्लिमों के तात्कालिक तरीकों के पीछे की दूरगामी रणनीति देखने में विफल रहता है। आज भी, हमारे अधिकांश प्रभावशाली नेता दैनिक रूप से जीते हैं, और अपनी नाक से आगे नहीं देखते। वे मुस्लिमों से शाबासी पाने की चाह में मरते रहते हैं। गाँधीजी की तरह हिन्दू समाज को अपनी जेब में मानकर, वे हमेशा मुस्लिमों को जीतने के लिए बड़े-बड़े दाँव लगाते रहते हैं। चाहे इस जुए में हिन्दू धर्म-समाज की भयंकार हानि होती हो।

वे दाँव भी 1947 से पहले वाली भूलों का ही दोहराव हैं। उस का सब से नियमित उदाहरण है 'अच्छे' मुस्लिम नेता खोजकर उन की आवभगत, पद-स्थान देकर मुसलमानों को प्रभावित करने की कोशिश। इस बीच सभी प्रकार के मुस्लिम नेता व संस्थान हमारे सत्ताधारियों से नई-नई सुविधाएं, संसाधन, जमीन, आदि लेते रहते हैं। जिसे वे निजी सुख-सुविधा नहीं, बल्कि इस्लामी वर्चस्व बढ़ाने में इस्तेमाल करते हैं। चूँकि यह सब हिन्दू धर्म-समाज के हितों के विरुद्ध है, इसलिए मुस्लिम नेता, संस्थान और सत्ताधारी हिन्दू, कोई भी इस का प्रचार नहीं करते। इस तरह के छोटे, परन्तु घातक कदम निरंतर जारी रहे हैं। विभिन्न सत्ताधारी पार्टियाँ इस में एक तरह से प्रतियोगिता करती हैं। यह विभाजन से पहले राष्ट्रीय नेताओं द्वारा की गई भूलों से भी अधिक बुरा है। दुर्भाग्यवश, कुछ सचेत हिन्दू भी इस का

सही आकलन करने के बदले दलबंदी मोह में रक्षा में हत्या पर भी ताली पीटते, या चुप रह जाते हैं। ऐसा तो 1947 से पहले भी नहीं होता था।

सब से प्रताड़ित समुदाय कौन

किसी भी हाल में एक समुदाय के उत्तेजक, गैर-कानूनी तथा अमानवीय व्यवहारों पर ऊँगली नहीं उठाई जाती। दंगों पर बिठाए गए जाँच आयोग या उन की रिपोर्टें तक दबा दी जाती हैं। सिर्फ इसलिए, क्योंकि उन की बातें दंगों की जबावदेही तय करने में मुसलमानों के विरुद्ध जा सकती हैं। एक बार बिहार के मुख्य मंत्री जगन्नाथ मिश्र ने सच छिपाने और झूठ फैलाने की इस प्रतियोगिता में एक रिकॉर्ड बनाया। उन्होंने जमशेदपुर दंगों की न्यायिक रिपोर्ट आने के बाद, अपनी ओर एक मनगढ़ंत सार-संक्षेप बनवाया, और उसी को न्यायिक रिपोर्ट का सार बता कर सांसदों और मीडिया में प्रसारित करवाया!

भारत में सांप्रदायिक दंगे के अध्ययन में यह संपूर्ण विषमता नोट करनी चाहिए। तथ्य सदैव लगभग एक प्रकार के मिलते हैं। राष्ट्रीय व्यवहार पद्धति मुस्लिम व्यवहार पद्धति को जाने-अनजाने मदद पहुँचाती है। मुस्लिम नेता, उलेमा दूसरे धर्मों और 'काफिरों' की निंदा, स्थानीय ताकत के हिसाब से दूसरों के पर्व-त्योहारों पर आपत्ति करना, बाधा डालना, उन्हें धर्मांतरित करने या खत्म करने को अपना पवित्र सिद्धांत मानते हैं। लेकिन दूसरों द्वारा शाब्दिक आलोचना भी बर्दाश्त नहीं करते। उसे 'सेक्यूलरिज्म से हटना', 'मुसलमानों के विरुद्ध घृणा फैलाना', 'इस्लामोफोबिया', आदि कह-कह कर रोकने की जिद करते हैं। सत्ताधारी तंत्र और मीडिया इसे अनदेखा करता तटस्थ-सा बना रहता है। यह विषमता अंग्रेजी शासन में नहीं थी।

दूसरा तथ्य यह है कि दंगे प्रायः एक ही समुदाय की ओर से शुरू किए जाते हैं। हाल के दिल्ली या बंगलौर दंगे इस के केवल ताजा उदाहरण हैं। सारे प्रचार में मुसलमानों की नाराजगी के कारण का खूब उल्लेख होता है, किन्तु मुसलमानों द्वारा किए गए हिन्दू-विरोधी कार्य का जिक्र नहीं होता जिस की प्रतिक्रिया ही किसी हिन्दू ने की। मीडिया और नेता वर्ग में यह एकतरफापन स्थापित है। वह मुस्लिम-क्रिया की चर्चा नहीं करता, केवल हिन्दू-प्रतिक्रिया की निंदा करता है। गुजरात दंगों में भी यही हुआ था। ऐसे दब्बू पक्षपात से मुसलमानों में क्या भावना पैदा होगी? इस पर नहीं सोचा जाता, जैसे गाँधीजी ने नहीं सोचा था।

लाहौर वाली उक्त घटना में गाँधीजी ने हिन्दू धर्म-समाज के विरुद्ध मुसलमानों के प्रहार को, भगवान कृष्ण और महर्षि दयानन्द पर गंदे आक्षेपों को नोट करने लायक भी नहीं समझा था। दुर्भाग्यवश, तब से वही हिन्दू नेताओं का मानक बन गया। हाल के उदाहरण लें, तो किश्तवाड़, कैराना, आगरा, गोधरा, मराड, नंदीमर्ग, वंधामा, आदि जगहों में हुए कांडों पर कोई बौद्धिक-राजनीतिक हाय-तौबा नहीं हुई। जैसा, कुछ वर्ष पहले मालदा और धूलागढ़ कांड पर स्वयं पश्चिम बंगाल की मुख्य मंत्री ने कहा कि ''कुछ नहीं हुआ''। झारखंड के नवाँटाड (धनबाद) की घटना भी उसी तरह नगण्य मानी गयी। नेताओं, पुलिस अधिकारियों, पत्रकारों से पूछ कर देखिए। आम तौर पर एक जैसा अज्ञान, भावहीनता या उदासीनता दिखेगी।

यह वही सौ वर्ष पुरानी बीमारी है, जिसे महात्मा गाँधी ने शुरू किया था। मोपला में अगस्त 1920 में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर 'हृदयविदारक अत्याचार' किए गए, जो डॉ. भीमराव अंबेदकर के शब्दों में, ''अवर्णनीय हैं। समग्र दक्षिण भारत में हरेक तरह के हिन्दुओं में भय की भयानक लहर दौड़ गई।'' किन्तु गाँधीजी ने माना कि कुछ नहीं हुआ! उन्होंने कांग्रेस वर्किंग कमिटी को मोपला-कांड पर कोई प्रस्ताव तक नहीं लेने दिया। उलटे ऐसा प्रस्ताव लिया, मानो मुसलमानों को ही परेशान किया गया, उन की गलतियों को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया, आदि। (डॉ. अंबेदकर, संपूर्ण वांङमय, खंड 15, पृ. 149)। इस तरह, हिन्दुओं के उत्पीड़न, सामूहिक संहार, आदि तक को 'कुछ नहीं हुआ' कहने की गाँधी-परंपरा बनी।

इस का परिणाम अनेक जगहों से हिन्दुओं का पलायन और समाप्ति हुई है। स्वतंत्र भारत का कश्मीर इस का सब से बड़ा उदाहरण है। अब जम्मू के इलाकों से हिन्दू पलायन हो रहा है। असम, बंगाल, बिहार के सीमावर्ती इलाकों से भी धीरे-धीरे हो रहा है। केरल के कई जिले हिन्दू-विहीन होने को हैं। प्रशासन और मीडिया यह जानते हैं। मगर सब की भंगिमा है कि कुछ नहीं हुआ! बाहरी इस्लामी संगठनों द्वारा भारत को निशाना बनाने पर भी चिंता नहीं की जाती। अल कायदा के सरगना ओसामा बिन लादेन ने अमेरिका के बाद भारत को अपना प्रमुख निशाना बताया था। उस के उत्तराधिकारी अल जवाहिरी ने भी वह दोहराया (3 सितंबर 2014)। भारत में अल कायदा की शाखा खोलते हुए उस ने यह कहा था कि वह असम, कश्मीर और गुजरात पर अपना काम केंद्रित करेगा, 'क्योंकि वहाँ मुस्लिम अच्छी संख्या में हैं।'

परन्तु हिन्दुओं के विरुद्ध हरेक हिंसा को छिपाने या नजरअंदाज करने में सामूहिक षड्यंत्र-सा है। पहले तो समाचार ही लीप-पोत कर आता है। वह भी फौरन गायब। बंगलौर ही नहीं, पीछे दिल्ली, धूलागढ़, नवाँटाड, किश्तवाड़, आदि की खोजबीन कर देखें। ठीक-ठीक पता नहीं चलेगा कि क्या हुआ

वाजपेई ने प्रधानमंत्री पद पर रहते कहा था कि ''बहुसंख्यकों को सुरक्षा की जरूरत नहीं, केवल अल्पसंख्यकों को होती है।'' यह उन्होंने गोधरा-कांड के बाद कहा था! वे साफ भूल गए कि कुछ ही महीने पहले बहुसंख्यक ही निरीह तीर्थ-यात्रियों के रूप में जिंदा जला दिए गए थे।

था! कार्रवाई, आदि तो दूर रही। इस के विपरीत 'अल्पसंख्यकों पर हिंसा' का हल्ला एक मामूली घटना से भी बरसों चलता है। दादरी के अखलाक कांड (2015) में केवल एक मुस्लिम के मरने पर देश भर में बौद्धिकों द्वारा 'असहिष्णुता' विरोधी अभियान ही चला। मगर दिल्ली, किश्तवाड़, धूलागढ़, कैराना, नवाँटाड, जैसे अनगिनत कांडों पर, जिन में हिन्दू सामूहिक रूप से मारे, सताए, भगाए जाएं, कोई आवाज नहीं उठती।

यदि बंगलौर में हिन्दुओं ने थाने जलाए होते, या धूलागढ़ में मुसलमानों का उत्पीड़न होता, या नवाँटाड में मंदिर के बदले मस्जिद पर हमला होता, तो अनगिनत बयान, प्रदर्शन और देशी-विदेशी संस्थाओं को ज्ञापन दिए जा चुके होते। बयानों, लेखों, साक्षात्कारों और चिन्ताओं से अखबार रंग जाते। धूलागढ़ भी दादरी की तरह दुनिया में बदनाम होता। न्यायपालिका से लेकर विदेशी संवाददाता, एन.जी.ओ., सब उसे भारत पर एक और काला धब्बा बताते। यह सब होता, यदि पीड़ित समुदाय मुस्लिम होता। यह मुसलमानों की ताकत से अधिक हिन्दू नेताओं की गलत नीतियों से होता है।

स्वतंत्र भारत में कश्मीर से केरल और नगालैंड से लेकर गुजरात, उत्तर प्रदेश तक, यदि किसी को सामूहिक अपमान, विस्थापन और संहार का सामना करना पड़ा था तो वह हिन्दू समुदाय है। लेकिन हिन्दू नेता इसे कभी मुद्दा बनाकर उपाय करने पर जोर देने के बजाए, सब कुछ छिपाकर अपने-अपने दलीय या गुटीय हित देखने में लगे रहते हैं। फलतः हिन्दू धर्म-परंपरा, रीति-रिवाज का बौद्धिक उपहास, अपमान आदि चलता रहता है। महान ग्रंथ मनुस्मृति को भारत में ठसक से जलाया जाता है। मगर कोई हिन्दू नेता इस का नोटिस तक नहीं लेता। जबकि इस्लामी संवेदनाओं पर वे सदैव सहानुभूति दिखाना अपना कर्तव्य समझते हैं। इस उदासीनता के कारण ही अनेक इलाकों में हिन्दुओं का उत्पीड़न, विस्थापन सामान्य घटना सी ली जाती रही है। बंगाल के सीमावर्ती क्षेत्रों में हिन्दुओं को दी जाती धमकी की क्रूरता महसूस करें, ''गोरू राखबि कैंपे, टाका राखबि बैंके, बोउ राखबि कोथाय?''। (गायों को सी.आर.पी.एफ. कैंपों में रख कर बचाओगे, रूपया बैंक में रखकर बचाओगे, अपनी स्त्रियों को कहाँ रखोगे?) यही कश्मीर में थाः ''असि छु बनावुन पाकिस्तान, बटव रोस तु बटन्यव सान'' (हम पाकिस्तान बनाएंगे, कश्मीरी पंडितों को खत्म कर, मगर उन की स्त्रियों के साथ)। यह नारा भी, ''या रलिव, या गलिव, या चलिव'' (इस्लाम में मिल जाओ, या खत्म हो जाओ, या भाग जाओ)। तीनों कार्य हुए। कुछ हिन्दू धर्मांतरित हुए, कुछ मारे गए, कुछ भाग कर जान और धर्म बचा सके। चार साल पहले उत्तर प्रदेश के कैराना में मुसलमानों के भय से हिन्दुओं का पलायन हुआ, जिसे राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था। उस पर संसद या सत्ताधारियों ने क्या किया?

ऐसा सामूहिक पलायन, अपमान, बलात्कार, जबरन धर्मांतरण, तथा मोपला से लकेर गोधरा जैसे अनगिनत संहार केवल हिन्दुओं के हुए हैं। फिर भी, इस उपेक्षित, उत्पीड़ित समुदाय के दुःख को स्वर नहीं दिया जाता! समाजशास्त्री, इतिहासकार, संस्कृतिकर्मी इस पर शोध नहीं करवाते। सरकारी अनुदान संस्थान भी इस के अध्ययन को जोड़ना जरूरी नहीं समझते। विद्वान लोग आँकड़े, विवरण नहीं रखवाते, संस्कृतिकर्मी इस पर नाटक या गीत नहीं रचते। इस के विपरीत केवल एक गुजरात दंगे पर सैकड़ों शोध-पत्र, दर्जनों पुस्तकें, अनगिनत पर्चे और फिल्में तक बनाई गईं! अकादमिक अध्ययन और सांस्कृतिक गतिविधि के नाम पर यह एक दशक से भी अधिक तक चलता रहा, जब तक कि उस की क्रमबद्ध प्रतिक्रिया के रूप में नरेंद्र मोदी प्रधान मंत्री न बन गए।

किसी भारतीय शासक ने आज तक हिन्दुओं से नहीं पूछाः कि "क्या हमारे राज में तुम सुरक्षित महसूस करते हो?" यह विगत सौ वर्षों से भारत का सब से बड़ा उपेक्षित सवाल है। गाँधी-नेहरू से लेकर अटल-अडवाणी और आज तक इस में कुछ न बदला।

फिर भी, किसी भारतीय शासक ने आज तक हिन्दुओं से नहीं पूछाः कि ''क्या हमारे राज में तुम सुरक्षित महसूस करते हो?'' यह विगत सौ वर्षों से भारत का सब से बड़ा उपेक्षित सवाल है। गाँधी-नेहरू से लेकर अटल-अडवाणी और आज तक इस में कुछ न बदला। इसीलिए यहाँ लाहौर, मोपला से लेकर कैराना, बंगलौर जैसी घटनाएं निरंतर दोहराती रही हैं। हिन्दुओं पर उत्पीड़न से किसी को राजनीतिक हानि का भय नहीं है, जैसे गाँधीजी को नहीं था। यह विचित्र विडंबना है। चूँकि हिन्दू धर्म के अनुयायी अपना मत फैलाने और दूसरों को मिटाने जैसी कोई भावना नहीं रखते। इसलिए असंगठित ही नहीं, असहाय भी हैं। जब कोई संगठित मतवादी इन्हें चोट पहुँचाता है, तो इन के बचाव में कोई नहीं आता।

इस का उपाय केवल स्वतंत्र भारत की राज्य-सत्ता की दृढ़ता कर सकती थी, जिस ने अंग्रेजों के जाने के बाद यह संवैधानिक जिम्मेदारी ली। यह जिम्मेदारी कि बिना किसी भेदभाव दुष्टों को दंड और पीड़ितों की रक्षा करे। लेकिन हिन्दू दुर्दशा पर बयान देने वाला भी सत्ताधारी नहीं मिलता! अगर भाजपा सत्तासीन हो, तो वह भी बातें बनाने-छिपाने में लग जाती है। जैसे, अटल बिहारी वाजपेई ने प्रधानमंत्री पद पर रहते कहा था कि ''बहुसंख्यकों को सुरक्षा की जरूरत नहीं, केवल अल्संख्यकों को होती है।'' यह उन्होंने गोधरा-कांड के बाद कहा था! वे साफ भूल गए कि कुछ ही महीने पहले बहुसंख्यक ही निरीह तीर्थ-यात्रियों के रूप में जिंदा जला दिए गए थे। ✔

दंगों का हिन्दू-विरोधी मनोविज्ञान (काफिर नजरिए से)

सर्वांगीण अवलोकन जरूरी

प्रश्न गंभीर बनता है कि विभिन्नताओं के देश भारत में केवल एक विभिन्नता- मुस्लिमों और हिन्दुओं की विभिन्नता - दंगों के रूप में क्यों व्यक्त होती है? वह भी देश के कई भागों में। यह शोचनीय परिघटना देश के लेखकों, विचारकों, नेताओं, प्रशासकों की पूरी जानकारी में है। कई दंगों पर विभिन्न सरकारों द्वारा नियुक्त जाँच आयोगों की रिपोर्टें और अनुशंसाएं भी उपलब्ध हैं। तब वह हमारे बौद्धिक-अकादमिक विमर्श में कोई स्थान क्यों नहीं पाती? हमारे नेता, लेखक, पत्रकार, शोधकर्ता, आदि ऐसे दस्तावेजों का निष्कर्ष क्यों नहीं जानते, अथवा उल्लेख नहीं करते?

शंकर शरण

यदि गोधरा के बाद दंगे न हुए होते, तो गोधरा कहने से आज शायद ही किसी को कुछ ध्यान आता। जैसे मराड़ या किश्तवाड़ कहने से कुछ याद नहीं आता है। दंगों पर चिंता में भी सदैव यही एकतरफारुख रहा है। भारत में विभिन्न धर्म-विश्वास, संप्रदाय, जाति, भाषा, आदि के समुदाय रहते रहे हैं। इन में से किन्हीं के बीच मनमुटाव या नापसंदगी सा संबंध भी रहा है। फिर भी किसी की अन्य के साथ दंगों की कोई परंपरा नहीं है। इस का एक मात्र अपवाद हिन्दू-मुस्लिम दंगे हैं, जिसका पुराना इतिहास है। फिर भी, इस के सत्यनिष्ठ अध्ययन से कतराने की प्रवृत्ति रही है। कभी-कधार विदेशी लेखक ही इस के अपवाद निकलते हैं।

जर्मन इतिहासकार डॉ. माइकेल मान ने दिल्ली और आस-पास क्षेत्र के इतिहास पर अध्ययन करते हुए पाया कि यहाँ के शासकों के लिए अठारहवीं शती में भी जब-तब हिन्दू-मुस्लिम दंगे एक समस्या रही है। अयोध्या में रामजन्म-भूमि वाले स्थान को लेकर ढाई सौ साल पहले से दंगे होते रहे हैं। इस का उल्लेख अनेक सरकारी, गैर-सरकारी दस्तावेजों में है।

अतः प्रश्न गंभीर बनता है कि विभिन्नताओं के देश भारत में केवल एक विभिन्नता-मुस्लिमों और हिन्दुओं की विभिन्नता-दंगों के रूप में क्यों व्यक्त होती है? वह भी देश के कई भागों में। यह शोचनीय परिघटना देश के लेखकों, विचारकों, नेताओं, प्रशासकों की पूरी जानकारी में है। कई दंगों पर विभिन्न सरकारों द्वारा नियुक्त जांच आयोगों की रिपोर्टें और अनुशंसाएं भी उपलब्ध हैं। तब वह हमारे बौद्धिक-अकादमिक विमर्श में कोई स्थान क्यों नहीं पाती? हमारे नेता, लेखक, पत्रकार, शोधकर्ता, आदि ऐसे दस्तावेजों का निष्कर्ष क्यों नहीं जानते, अथवा उल्लेख नहीं करते? मीडिया के संपादकीय, टी.वी. चर्चाएं, लेख, आदि केवल तात्कालिक टीका-टिप्पणियों तक सीमित रह जाती हैं।

कारण यही है कि हिन्दू-मुस्लिम दंगों पर बुनियादी सचाइयों पर विचार करने के बजाए उन से बचने की कोशिश होती है। समस्या को उस के सभी पहलुओं के साथ नई पीढियों के सामने कभी नहीं रखा जाता, जिन से नए प्रशासक, अध्यापक और नीति-

निमार्ता बनते हैं। उलटे, वास्तविकता छिपाने के साथ-साथ एक झूठा इतिहास पढ़ाते-सिखाते रहने की घातक परंपरा चल रही है। फलतः प्रशासक, शिक्षक, पत्रकार, मेधावी छात्र, नए राजकर्मी, आदि बुनियादी सचाइयों से अनजान रहते हैं। वे गलत जानकारियों, पूर्वग्रहों से भरे रहते हैं। इसलिए भी दंगों की पुनरावृत्ति रोकने का उपाय नहीं हो पाता। आखिर जिस बीमारी के लक्षण ही छिपाए जाएं; उलटे बीमार को स्वस्थ बताया जाए, उस बीमारी से कैसे मुक्ति होगी!

हिन्दू-मुस्लिम दंगे हमारे समाज का वह घाव है जिसे छिपाकर ही वह जीने का आदी रहा है। सो, वह जब-तब बलपूर्वक फूट पड़ता है। कई बार छिपाने की प्रतिक्रिया से ही दंगे भड़क उठते हैं। जैसे, गोधरा-कांड और गुजरात दंगा। 27 फरवरी 2002 को हुए गोधरा कांड को दूसरे दिन से ही नकारने, बदलने के राजनीतिक-बौद्धिक प्रयास ने ही पीड़ित समुदाय को और बुरी तरह भड़का दिया। गुजराती प्रायः अधिक शांतिपूर्ण लोग हैं। यदि गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस के 59 हिन्दू तीर्थ-यात्रियों को जिंदा जला देने के कांड की कड़ी भर्त्सना और बिना अगर-मगर कार्रवाई की बात होती, तो संभवतः दंगे न हुए होते। किन्तु हमारे राजनीतिक-बौद्धिक वर्ग के प्रभावशाली हिस्सों ने गोधरा कांड की फौरन लीपापोती करके जले पर ढेर सारा नमक छिड़क दिया। आज अठारह वर्ष बाद भी नरेंद्र मोदी की निंदा करने वालों को इस सचाई का सामना करना शेष है। यह सचाई कि गोधरा कांड करने वाले ही उस दंगे के दोषी हैं, और मीडिया व सिविल सोसाइटी के वे सारे सुंदर लोग भी, जिन्होंने एक दिन के अंदर गोधरा-कांड को खुद पीड़ित समुदाय के माथे डालने का भयंकर कार्य किया था।

वस्तुतः हर दंगे में 'दोषी कौन?' का सवाल पूरी समस्या का सब से जरूरी पहलू है। इतना विकट कि प्रायः यही सारी बीमारी को छिपाने का मुख्य कारण हो जाता है!

गलत प्रस्थापनाएं

सो, दंगों पर अधिकांश चर्चा गलत परिकल्पनाओं के साथ चलती है। जो कुछ इस प्रकार हैः (1) दंगों के पीड़ित 'मुस्लिम अल्पसंख्यक' होते हैं, इसलिए (2) अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, बल्कि उन के लिए अलग आयोग, अधिकार, आरक्षण, आदि से उन्हें मजबूत बनाने के उपाय होने चाहिए, तथा (3) हिन्दू संगठनों पर नकेल कसी जानी चाहिए। इन परिकल्पनाओं को ऐसा सत्य माना जाता रहा है कि कुछ पहले 'सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोध विधेयक' (2011) के प्रारूप में इसी आधार पर कानून बनाने का प्रस्ताव आया था। उस में मान कर चला गया है कि हर सांप्रदायिक हिंसा के दोषी बहुसंख्यक यानी हिन्दू होंगे और पीड़ित अल्पसंख्यक मुस्लिम होंगे। तदनुरूप सारी निरोधक व दंड-व्यवस्था भी प्रस्तावित की गई थी। जबकि दंगों की व्युत्पत्ति और आँकड़े उन परिकल्पनाओं का उलटा दिखाते है।

सरसरी आँकड़ों के अनुसार भी, दंगे प्रायः मुसलमानों द्वारा शुरू किए जाते हैं। कई इलाकों में हिन्दू एकतरफा तबाह होते हैं, जैसे कश्मीर, बंगाल या केरल में। जब कहीं पर हिन्दू प्रतिक्रिया भी हुई हो, तभी मृतकों की संख्या दोतरफा होती है। जैसे, केंद्रीय गृह मंत्रालय ने 25 सितंबर 2013 को गत दो वर्ष में देश में सांप्रदायिक हिंसा का कुछ आंकड़ा जारी किया था। जिस के अनुसार कुल 89 हिन्दू और 114 मुस्लिम मरे, तथा 1804 हिन्दू और 1490 मुस्लिम घायल हुए। यह केवल चार राज्यों झ बिहार, उ.प्र., गुजरात व महाराष्ट्र का हिसाब था। फिर राज्यवार हिसाब थे। जिस से पता चलता है कि कुछ राज्यों में एक ही समुदाय के लोग अधिक मरे। कई महत्वपूर्ण राज्यों का हिसाब उन में नहीं था।

कई लोग दंगों का कारण बताने तथा उस मृतकों, घायलों में हिन्दुओं-मुस्लिमों की संख्या देने पर आपत्ति करते हैं। क्योंकि इस से वह छवि बिगड़ती है जिस में मुस्लिमों को पीड़ित और हिन्दुओं को उत्पीड़क दिखाया जाता है। बहुत पहले संसद में रखी गई गृह मंत्रालय की एक रिपोर्ट में बताया गया था कि 1968 से 1970 के बीच हुए 24 दंगों में 23 दंगे मुस्लिमों द्वारा आरंभ किए गए थे। वह कोई अपवाद अवधि नहीं थी।

पर हमारे बौद्धिक विमर्श में चिंता उलटी मिलती है। पूरा मामला ऐसा ऑर्वेलियन है कि इसके पाखंड और अन्याय को राजनीति की भाषा में रखना भी कठिन है! यह कोई दूर देश या सदियों पहले की बातें नहीं जो विकृत की जाती हैं। बल्कि सामने होने वाली दैनंदिन घटनाओं और रिकॉर्ड को झुठलाया जाता है।

शोध अध्ययन का अभाव

इसी कारण हमारे इतिहासकार, समाजशास्त्री या राजनीतिशास्त्री सांप्रदायिक दंगों के अध्ययन से ही बचते हैं। जबकि 2002 से पूरे एक दशक से भी ज्यादा केवल गुजरात दंगा सभी बौद्धिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर हावी रहा। तब क्या यह आश्चर्यजनक नहीं कि हमारे अकादमिक प्रोफेसरों -एमिनेंट इतिहासकारों, राजनीति विज्ञानियों, समाजशास्त्रियों- ने दंगों पर कभी कोई व्यवस्थित शोध न किया, न करवाया? उन बड़बोले प्रोफेसरों ने भी, जो ऊँची कुर्सियों पर लंबे समय से जमे सांप्रदायिकता और दंगों पर ही टिप्पणियां करते रहे हैं।किसी ने इस विषय पर कोई पुस्तक तक नहीं लिखी! प्रमाणित तथ्यों, जानकारियों का शोधपरक, संपूर्ण दस्तावेज बनवाना तो दूर रहा।

खोजने पर एक विदेशी विद्वान, डॉ. कूनराड एल्स्ट की पुस्तक 'कम्युनल वायोलेंस एंड प्रोपेगंडा'' (वॉयस ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 2014) मिलती है, जिस में यहाँ सांप्रदायिक दंगों का एक तथ्यपूर्ण विश्लेषण किया गया है। वह एक बेल्जियन विद्वान हैं। कई यूरोपीय भाषाओं एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन के ज्ञाता और पैने विश्लेषक हैं। उदासीन क्रिश्चियन और यूरोपीय होने के कारण वे तुलनात्मक सामाजिक स्थिति की अनेक ऐसी बातें नोट करते

हैं जो भारतीय अवलोकनकर्ता चूक जाते हैं। उदाहरण के लिए, कूनराडके अनुसार, 2005 में लंदन ट्यूब (मेट्रो) में आतंकी हमले के बावजूद आज उस में बिना यात्रियों की जांच के यात्रा होती है। मगर दिल्ली में नहीं। यहां बिना किसी जांच के, एक भी व्यक्ति, या सामान अंदर नहीं जा सकता। यह भय किस से है?

कांग्रेस जैसे सत्ताधारी दल से लोकसभा चुनाव लड़ रहे प्रत्याशी इमरान मसूद ने खुली सभा (28 मार्च 2014, सहारनपुर) में कहा था कि वह नरेंद्र मोदी को टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे। सारे देश ने वीडियो देखा, किस निश्चिंतता और विश्वास से उस ने वैसा कहा था। उपस्थित भीड़ ने तालियाँ बजाई। क्या उस में किसी भयभीत अल्पसंख्यक की मानसिकता की लेश-मात्र झलक थी? मसूद कोई अपवाद नेता या घटना नहीं। उस से पहले छोटे ओवैसी ने और भी बड़ी, खुली सभा में घंटे भर तक वैसा ही धमकाऊ भाषण अनवरत तालियों के बीच दिया था।

इन घटनाओं को सांप्रदायिक हिंसा की चर्चा से लुप्त कर देना गैर-जिम्मेदार प्रवृत्ति है। यहाँ दंगे ऐसी ही बातों, कारनामों की प्रतिक्रिया में होते हैं। मसूद, ओवैसी, आजमी से लेकर पीछे चलते जाएं तो जिन्ना, मुहम्मद अली तक, वैसे हिंसक आह्वान और कार्रवाइयाँ करने वाले सदैव 'अल्पसंख्यक' ही थे! वे यह बार-बार करते हैं। आंध्र प्रदेश के विधायक अकबरुद्दीन ओवैसी ने हाल में दो बार दोहराया (24 जुलाई 2019) कि ''हम मुसलमान 25 करोड़ हैं और तुम हिन्दू 100 करोड़ हो, मगर 15 मिनट के लिए पुलिस हटा दो, देख लेंगे किस में कितना दम है।'' ऊपर वाले संदर्भ मेंइमरान मसूद ने भी प्रतिशत बिंदु जोड़कर अपना दावा किया था। यदि यह स्थिति आंध्र प्रदेश और उत्तर प्रदेश की है, तो बंगाल, असम, केरल, जैसे राज्यों की कल्पना कर सकते हैं!

कूनराड एल्स्ट ने नोट किया है कि मुजफ्फरनगर दंगे (2013) में कई राजनीतिक दलों के नेता मुस्लिम पीड़ितों के घर गए। हिन्दू पीड़ितों के घर वे गए ही नहीं! अखबारों में एक भी ऐसी तस्वीर नहीं आई, जिसमें कोई बड़ा नेता किसी हिन्दू पीड़ित को सांत्वना दे रहा हो। यह भी जोड़ लें कि न्यायालय ने उ.प्र. प्रशासन को फटकारा था कि मुजफ्फरनगर दंगे के बाद केवल एक समुदाय के लोगों की बंदूक लाइसेंस रद्द की गई। वह कौन सा समुदाय है?

कायदे से कूनराड एल्स्ट जैसी पुस्तक हमारे प्रसिद्ध प्रोफेसरों को लिखनी चाहिए थी! उलटे कुछ प्रोफेसरों ने गुजरात दंगे पर झूठी प्रचार-पुस्तिकाएं बंटवाईं। जिनका घोषित उद्देश्य था न्यायिक या कानूनी कार्रवाई से स्वतंत्र होकर किसी भी तरह एक नेता और सरकार को गिराना। इस के लिए वे अमेरिका जाकर झूठी गवाही तक दे आए। उदाहरण के लिए, वाशिंगटनमें 'यूनाइटेड स्टेट्स कमीशन ऑन इंटरनेशनलरिलीजस फ्रीडम' के समक्ष (10 जून 2002), जबकि वे न दंगों के प्रत्यक्षदर्शी थे, न गुजरात के निवासी! लेकिन राजनीति शास्त्र केउन्हीं प्रोफेसर महोदय ने दंगों पर कभी कोई प्रमाणिक शोध नहीं करवाया।

इस पृष्ठभूमि में डॉ. एल्स्ट की एकलौती पुस्तक और अधिक महत्व रखती है। यह भारत में सांप्रदायिक दंगों पर एक संक्षिप्त, किन्तु प्रमाणिक संयत समीक्षा है। इसेडॉ. अंबेदकर की 'पाकिस्तान ऑर पार्टीशन ऑफ इंडिया' (1940)के साथ मिलाकरदेखने से गत सौ वर्ष में यहां दंगों का एक सरसरी आकलन झलकता है।

एल्स्ट के अनुसार किसी देश में सत्ताधारी कौन है, इसे पहचानने की एक कसौटी यह है कि आप वहाँ किसकी निंदा नहीं कर सकते? इस आधार पर भारत में हिन्दू समाज नितांत सत्ताहीन है। यह स्थाई दृश्य है कि उसे जो जैसे चाहे, किसी भी बात के लिए निंदित कर सकता है। केवल समुदाय रूप में ही नहीं, उनके धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, महापुरुषों, महान ज्ञान ग्रंथों, देवी-देवताओं, आदि किसी को भी जब चाहे दो-चार बुरी बातें कह देना यहाँ का बेधड़क बौद्धिक चलन है। क्योंकि ऐसा करने में कोई खतरा नहीं!

इस हिन्दू-विरोधी दबदबे के कारण ही कई पारंपरिक हिन्दू समूह, संप्रदाय अपने लिए गैर-हिन्दू दर्जे की माँग करते हैं। न केवल सिख, नव-बौद्ध, जैन, आदि कहते हैं कि वे हिन्दू नहीं, बल्कि अनेक जाने-माने हिन्दूसंप्रदाय भी। वे अपने को सभी धर्मों से परे या 'स्पिरिचुअल' कहलाना पसंद करते हैं। यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन इसके लिए अदालत तक गया कि उसे हिन्दू न माना जाए। ऐसी चाह क्यों?

केवल इसलिए, क्योंकि यहाँ हिन्दू संस्थानों को जब चाहे सरकार प्रताड़ित कर सकती है। उन्हें बेदखल कर उन के स्थानों पर कब्जा कर सकती है। लेकिन यदि किसी को गैर-हिन्दू दर्जा मिल जाए, तो ठीक उल्टा हो जाता है! उनकी गैर-कानूनी गतिविधियों पर भी सरकार हाथ नहीं डालती। क्या आपने किसी मदरसे, मस्जिद या चर्च पर सरकारी नियंत्रण की खबर सुनी है? क्या वहाँ से आतंकी, गैर-कानूनीगतिविधियां नहीं होतीं, या उनमें घपले नहीं होते? जबकि हिन्दू मंदिरों, संस्थानों, आदि को अकारणभी सरकार कब्जे में लेती रही है। फिर उन की संपत्ति का मनमाना दुरुपयोग, टैक्स वसूलना, यहां तक कि हिन्दू-विरोधी कार्यों में भी उपयोग करती है।

इसलिए डॉ. एल्स्ट का अवलोकन है कि भारत में हिन्दू हीन दर्जे के नागरिक हैं। कानूनी तौर पर भी हिन्दुओं के विरुद्ध भेद-भाव है, जो संविधान के अनुच्छेद 25-31 का गलत अर्थ करके धीरे-धीरे स्थापित किया गया। कथित हिन्दूवादी राजनीतिक दलों ने भी आज उस का कभी विरोध नहीं किया, बल्कि उसी चलन को अपने शासनों में भी बढ़ाया।

फलतः यहाँ हिन्दू होने के साथ हीन

इन घटनाओं को सांप्रदायिक हिंसा की चर्चा से लुप्त कर देना गैर-जिम्मेदार प्रवृत्ति है। यहाँ दंगे ऐसी ही बातों, कारनामों की प्रतिक्रिया में होते हैं।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे समय-समय पर उन्हीं घावों का सम्मिलित रूप से फूट पड़ना भी है। गत सौ वर्षों से चल रही इसी प्रक्रिया का एक दुष्परिणाम देश का खूनी विभाजन भी था।

मानसिकता स्थापित कर दी गई है। कांग्रेस पार्टी ने राष्ट्रपति पद के लिए डॉ. कर्ण सिंह को अपना उम्मीवार बनाने का नाम इसलिए वापस ले लिया (2007)क्योंकि कुछ दलों ने आपत्ति की कि वे 'प्रोनाउन्स्ड हिन्दू'लगते हैं। जी हाँ 'लगते हैं'! यानी सब से वरिष्ठ और सेक्यूलर कांग्रेसी होते हुए भी किसी को हिन्दू लगना भी नहीं चाहिए।यह भी यहाँ हिन्दू दूसरे दर्जे के नागरिक होने का ही उदाहरण है। बौद्धिक विमर्श में 'हिन्दू' शब्द केवल निन्दात्मक रूप में प्रयोग होता है! जबकि मुस्लिम संवेदनाओं को 'प्रोनाउन्स्ड' आदर देना आधिकारिक परंपरा है। इतिहासकार रमेशचंद्र मजूमदार ने 1964 ई. में ही नोट किया था कि यहां अकादमिक जगत में 'हिन्दू' शब्द का सकारात्मक प्रयोग करना अपनी हँसी उड़ाने को निमंत्रण देना है।

वस्तुतः दंगों में मुस्लिम जिम्मेदारी से इनकार करना भी उसी परंपरा का एक पहलू है। उलटे कई बार समाचारों के साथ ही किन्हीं हिन्दू सगंठनों के दोषी होने का आरोप भी कर दिया जाता है। जब उस आरोप के झूठे होने का पता चलता है,तब उसे समाचारों में प्रमुखता नहीं मिलती। यह हालिया दिल्ली दंगों में भी हुआ। तस्वीरों में उग्र मुस्लिम भीड़ दिखाकर भी उसे 'हिन्दू दंगाई' कहकर प्रचारित किया गया! इस प्रकार, लाखों लोगों को प्रथम समाचारों के साथ मिला हिन्दू-विरोधी संदेश यथावत रह जाता है। विदेशी मीडिया में तो वह पहुंचता ही नहीं कि आरोप झूठे थे। इस के अनगिन उदाहरण लगातार देखे जा जाते हैं (डांग, क्योंझर, हैदराबाद, छित्तीसिंहपुरा आदि)।

उसके ठीक उलट, हिन्दुओं के विरुद्ध खुली, संगठित हिंसा, विध्वंस आदि खबरें भी कभी प्रमुखता क्या, स्पष्टता से भी नहीं दी जातीं। यानी, जिसके शिकार हिन्दू थे, और इसीलिए हुए क्योंकि हिन्दू थे - ऐसी खबरें सदैव समझा कर ऐसे दी जाती हैं जिस से इस्लामी हिंसा का बचाव हो सके, या उसे मामूली बताया जा सके। मरने वाले भी ''24 किल्ड'' (नन्दीमर्ग) बताए जाते हैं, न कि 'हिन्दूज किल्ड'। यह उस के ठीक विपरीत है, जो एक भी मुस्लिम मौत पर सदैव होता है। तब मृतक की धार्मिक पहचान जरूर लहराई जाती है।

अकादमिक और मीडिया जगत में इस आदतन मुस्लिम-परस्ती और हिन्दू-विरोध को डॉ. एल्स्ट ने बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु माना है। इस से एक ओर, इस्लामी उग्रता को शह मिलती है। दूसरी ओर, हिन्दू-विरोधी दुष्प्रचार में सब को आसानी होती है। हिन्दुओं द्वारा की गई झूठी-सच्ची हिंसा का जितना ही धुँआधार निंदा-प्रचार होता है, उतना ही सहजता से हिन्दू-विरोधी हिंसा को निपटा दिया जाता है। उसकी फिर चर्चा भी नहीं होती। करनी ही पड़े तो दोष हिन्दुओं को ही देकर। जैसे, गोधरा में 59 हिन्दुओं को जिंदा जला दिया गया, तो 'अयोध्या आंदोलन जिम्मेदार था', या उड़ीसा में स्वामी लक्ष्मणानन्द को मार डाला गया, तो इस के पीछे लक्ष्मणानन्द के 'धर्मांतरण-विरोधी कार्य थे'; या उन्हें क्रिश्चियनों ने नहीं, 'नक्सलियों ने मारा'; या, कश्मीर से हिन्दू पंडितों को मार भगाया गया, तो उसके राज्यपाल जगमोहन या भारतीय सेना ह्यमूल कारण' है,आदि। हालिया घटना होने पर भी आम भारतीयों को यह बिलकुल मालूम नहीं कि लक्ष्मणानन्द को मारने वाले सभी के सभी क्रिश्चियन थे। इस प्रकार, कूनराड के अनुसार हिन्दू हर हाल में निंदित होते हैं। वे चुपचाप पीड़ित हों, तब भी। और जब प्रतिकार करें तब भी!

हमारे 'जिम्मेदार' लोग बंगलौर, दिल्ली, किश्तवाड़, मऊ, गोधरा,मराड,आदि अनगिन सांप्रदायिक हिंसा की तफसीलोंपर चुप्पी साध कर समझते हैं कि उन्होंने माहौल और बिगड़ने से बचाया। उन्होंने कभी ठंढे दिमाग से नहीं सोचा कि ऐसी तिकड़मों से उन्हें बीमारी खत्म करने में सफलता क्यों नहीं मिलती है?

उलटे नेताओं, नीति-निमार्ताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा विभिन्न प्रसंगों में भेद-भाव करने वाले बयानों से संबंधित समुदायों पर प्रतिक्रिया होती ही है। उन से किसी समुदाय में क्षोभ हो, और उस का निराकरण न हो, तो वह विविध प्रकार की अस्वस्थकर भावनाओं के रूप में एकत्र होता है। वह लोगों के मन में नये घाव बनाता है, या किसी पुराने घाव को बढ़ाता है। यह सब सांप्रदायिक सद्भाव के विरुद्ध है।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे समय-समय पर उन्हीं घावों का सम्मिलित रूप से फूट पड़ना भी है। गत सौ वर्षों से चल रही इसी प्रक्रिया का एक दुष्परिणाम देश का खूनी विभाजन भी था। नेहरू ने मुस्लिम लीग की पहचान ही बताई थी कि वह 'सड़कों पर हिन्दू-विरोधी दंगे करने के सिवा और कुछ नहीं करती'। इस प्रकार, जिन्ना और नेहरू दोनों के ही अनुसार मुस्लिम लीग ने दंगों को अपने हथियार के रूप में राजनीतिक इस्तेमाल किया। किसी और ने तो नहीं किया!

क्या वह ऐतिहासिक सत्य आज बदल गया है? क्या आज मुस्लिम नेता अपनी चित्र-विचित्र माँगों के लिए कोई और तरीका इस्तेमाल करते हैं? कई बार वह मांगें दूसरे मुस्लिम देशों या अंतरराष्ट्रीय इस्लामी मुद्दों से जुड़ी होती हैं। उन्हीं के लिए मुसलमानों को यहाँ दंगे करने के लिए कौन कहता है? यह सब समय-समय पर सामने होता रहता है। चाहे हमारे बुद्धिजीवी और नेता इस से अनजान बनने की कोशिश करते हैं।

इस पुरानी बीमारी के कारण आज भी वही हैं। यह जगजाहिर नजारा छिपाए नहीं छिप सकता। केवल राजनीतिक झक में उस पर पर्दा डालने की कोशिश होती है। उस से बीमारी बढ़ती ही है। न केवल भारत, बल्कि दूसरे देशों में भी एक जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति अंततः सचाई का आभास दे देती है। ✔

दंगों का गणित और विज्ञान
(काफिर नजरिए से)
दंगों का वास्तविक हिसाब

केवल 1947 ई. के बाद से हुई सांप्रदायिक हिंसा में मुसलमानों की तुलना में नौ गुना हिन्दू मारे गए हैं! सामूहिक विस्थापन और शरणार्थियों के आकंड़ों में भी उसी की झलक है। सर्वविदित है, कि पाकिस्तान और बंगलादेश से उत्पीड़न के मारे हिन्दू शरणार्थी लाखों की संख्या में भारत आते रहे, वहीं उसी कारण भारत से पाकिस्तान जाने वाले मुस्लिम कोई नहीं थे। क्या इस प्रत्यक्ष सचाई से भी वास्तविकता स्पष्ट नहीं होती?

शंकर शरण

कुछ लोग दंगों का गणित चतुराई से इस्तेमाल करते हैं। सर्वप्रथम, हिसाब रखने में एक मापदंड नहीं रहता। रिपोर्टिंग से ही गड़बड़ी आरंभ हो जाती है। प्रेस काउंसिल ने कह रखा है कि दंगों में किसी समुदाय का नाम न लिया जाए, परंतु हिंसा में 'क' समुदाय के पीड़ित होने पर उस का नाम बताया जाता है, पर 'ख' के पीडित होने पर नहीं। दंगे आरंभ करने वालों पर भी वही रवैया। यदि शुरूआत 'क' ने की हो, तो बात छिपाई जाती है। गोधरा और गुजरात दंगा (2002) की रिपोर्टिंग से लेकर उस से पीछे हुए बंबई, मऊ, मुरादाबाद, भागलपुर, जमशेदपुर, जबलपुर, आदि लगभग सभी दंगों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। सभी तफसीलें सामने नहीं रखी जातीं। चुनी हुई बातें बताई, और चुनी हुई छिपाई जाती हैं।

उत्तर-पूर्व भारत के कुछ राज्यों में क्रिश्चियन संगठनों के शिकार हिन्दुओं को भी सांप्रदायिक हिंसा के शिकार में नहीं गिना जाता। वहाँ हिन्दुओं का प्रताड़ित होना, मारा जाना, दबाव द्वारा धर्मांतरित होने पर भी उसे सांप्रदायिक हिंसा या अत्याचार में नहीं गिना जाता। जबकि उड़ीसा में किसी हिन्दू के हाथों कुल तीन क्रिश्चियन के मरने का भी दुनिया भर में वर्षों तक प्रचार होता रहा।

फिर, सांप्रदायिक हिंसा की पहचान में भी हीला-हवाला होता है। जिहादी हमलों के शिकार लोगों को सांप्रदायिक हिंसा के पीड़ितों में नहीं गिना जाता! जबकि अधिकांश ऐसे हमले एक विशेष समुदाय के ही व्यक्ति और संगठन करते हैं, और दूसरे के विरुद्ध करते हैं। स्थान, दिन और घड़ी देखकर ऐसे संगठित करते हैं ताकि अन्य समुदाय के लोग ही शिकार हों। कई बार वे इसे स्वयं घोषित भी करते हैं। तब उन जिहादी हमलों को सांप्रदायिक हिंसा के हिसाब से बाहर कैसे रखा जा सकता है?

पिछले दो दशकों में दिल्ली, जम्मू, मुंबई, वाराणसी, कोयम्बटूर, पुणे, अमरनाथ तीर्थयात्रियों, अक्षरधाम मंदिर, संकटमोचन मंदिर, रघुनाथ मंदिर, अयोध्या, महाबोधि मंदिर, आदि पर हुए आतंकी हमले देखें। न केवल हिन्दू मंदिरों पर, बल्कि दीवाली की पूर्व-संध्या पर बाजार में, या भाजपा की आम सभा में, आदि में की गई आतंकी हिंसा में मरे 100, 40, 55, 14 (या केवल 1 भी) के मरने को सांप्रदायिक हिंसा के हिसाब में नहीं जोड़ा जाता। जबकि जिहादियों का किसी विशेष तीर्थयात्रा, या स्थान, दिन व समय आदि चुनना स्पष्ट रूप से केवल हिन्दू समुदाय को ही मारना रहा है।

सब से गंभीर तथ्य यह है कि उस हिंसा की पूरी मानसिकता सांप्रदायिक उद्देश्य से परिचालित रही है। कई बार यह भी सामने आया कि दंगे भड़काने के लिए ही वैसे काम किए गए। फिर, जैसा कुछ वर्ष पहले यासीन भटकल की निशानदेही पर हुए दर्जनों छापों और सैकड़ों गिरफ्तारियों से भी दिखा कि आतंकी कार्रवाइयों में लगभग संपूर्णतः केवल एक समुदाय के लोग सक्रिय मिले। तब जिहादी आतंक के शिकार हिन्दुओं को सांप्रदायिक हिंसा के हिसाब में न जोड़ना मनमानी है।

जिहादी कार्रवाइयाँ सांप्रदायिक हिंसा ही हैं, इस का प्रमाण उन आतंकियों के प्रति एक समुदाय विशेष के नेताओं की एकजुटता से भी मिलता है। संसद पर हमला करने वाले मुहम्मद अफजल को सजा देने के विरुद्ध जम्मू-कश्मीर विधान सभा ने प्रस्ताव पास किया। फिर पूरे राज्य में बंद आयोजित हुआ। बड़े-बड़े मुस्लिम नेताओं ने उस जिहादी के प्रति आदरसूचक शब्दों का प्रयोग किया। एक मुस्लिम संगीत ग्रुप ने अपना एक अलबम अफजल को समर्पित किया। यही रुख मुंबई हमले में पकड़े गए पाकिस्तानी आतंकी अजमल कसाब के प्रति भी था, जब उसे मनचाहा भोजन देने और बाद में मजहबी आदर से दफनाने की माँगें की गईं। यह माँगे किन्होंने, किन भावनाओं से की?

इन तथ्यों से उस मिथ्याचार को पहचाना जा सकता है कि आतंकवादियों का 'कोई मजहब नहीं होता'। सभी उपलब्ध प्रमाण व व्यवहार दिखाते हैं कि न केवल आतंकवादियों का मजहब होता है, बल्कि वे मजहबी विश्वास से ही वह सब करते हैं! इसीलिए उन का समुदाय उन की भर्त्सना नहीं करता, या खाना-पूर्ति जैसी करता है। भारत और पूरे विश्व में देखा गया कि कुख्यात जिहादियों की निंदा करने में भी मुस्लिम समुदाय ठंडा रहता है। कुछ मुस्लिम तो उन पर गर्व भी करते, और जिहादियों की फोटो वाली टी-शर्ट आदि बनाते, बेचते, खरीदते रहे हैं। बहरहाल, भारत में तमाम आतंकी हमलों और उन में मृतकों का हिसाब बताता है कि मरने वाले भारी संख्या में हिन्दू हैं, और आतंक बरपाने वाले मुख्यतः मुस्लिम। इसे सांप्रदायिक हिंसा के गणित में न जोड़ना सरासर पाखंड है।

उत्तर-पूर्व भारत के कुछ राज्यों में क्रिश्चियन संगठनों के शिकार हिन्दुओं को भी सांप्रदायिक हिंसा के शिकार में नहीं गिना जाता। वहाँ हिन्दुओं का प्रताड़ित होना, मारा जाना, दबाव द्वारा धर्मांतरित होने पर भी उसे सांप्रदायिक हिंसा या अत्याचार में नहीं गिना जाता। जबकि उड़ीसा में किसी हिन्दू के हाथों कुल तीन क्रिश्चियन के मरने का भी दुनिया भर में वर्षों तक प्रचार होता रहा। ऐसी पक्षपाती रिपोर्टिंग और अतिरंजित प्रचार से बिलकुल गलत छवि बनाई जाती है कि भारत में 'बेचारे अल्पसंख्यक' बहुसंख्यक हिन्दुओं द्वारा सताए जाते हैं। दुर्भाग्यवश, हमारी सरकारें भी इसी प्रचार को मौन-मुखर चलने देती हैं।

सांप्रदायिक हिंसा के गणित में वही रुख जम्मू-कश्मीर में भी रहा है। कश्मीर में लगभग संपूर्ण हिन्दू समुदाय को मार भगाने की गिनती सांप्रदायिक हिंसा में नहीं होती। यह तर्क देकर कि वहाँ आतंकियों ने मुस्लिमों को भी मारा! मगर इस में छिपाया जाता है कि उन मुस्लिमों को मारने वाले कोई हिन्दू नहीं थे। जबकि हिन्दुओं को मारने वाले केवल मुस्लिम थे। उस से भी अधिक बुनियादी तथ्य यह, कि हिन्दुओं को मारा ही इसीलिए गया क्योंकि वे हिन्दू थे! जबकि किसी कश्मीरी हिन्दू द्वारा किसी मुस्लिम को चोट पहुँचाने का कभी कोई समाचार नहीं रहा है - अपवाद स्वरूप भी नहीं। तब भी दशकों से उन्हें निरंतर सताया, मारा, और भगाया गया! यह केवल जिहादियों ने नहीं, सामान्य कश्मीरी मुसलमानों ने भी किया जो कश्मीरी हिन्दुओं के पड़ोसी थे। वहाँ से बचकर आए प्रत्येक हिन्दू ने यही गवाही दी है। तब यह सब से घृणित सांप्रदायिक हिंसा के सिवा और क्या था? मगर सांप्रदायिक हिंसा के गणित से यह भी बिलकुल बाहर रखा जाता है।

फिर, भारत में दंगों के सौ साल के इतिहास में उत्पीड़क और उत्पीडित की गणना में पाकिस्तान और बंगलादेश के आँकड़े गायब कर दिए जाते हैं। वह भी तब, जबकि उन दोनों देशों में सैकड़ों हिन्दू मंदिरों को तोड़ने का 'मूल कारण' भारत में रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद गिराने जैसी एक घटना को ठसक से कहा गया था! अर्थात, तीन देश हो जाने के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे के हिसाब में निश्चित आपसी संबंध बनता है। तब दंगों के हिसाब में पाकिस्तान और बंगलादेश में हिन्दू जान-माल-पूजास्थल की हानि क्यों नहीं जोड़ी जाती?

वास्तविकता यह है, कि रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद गिरने के दो वर्ष पहले, केवल 1989 में, बंगला देश में सैकड़ों हिन्दू मंदिर तोड़ डाले गए थे। वर्ष 1971 से पहले भी लाखों-लाख हिन्दू उस क्षेत्र में बिना किसी कसूर, कश्मीरी हिन्दुओं की तरह, निरीह

मारे गए थे। केवल इसलिए कि वे हिन्दू थे। पूरा हिसाब जोड़ने का हाजमा भारत के किसी सेक्यूलर-वामपंथी समीक्षक के पास नहीं है! उदाहरण के लिए, कुछ पहले दिल्ली में एक बड़े राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थान के एक अकादमिक प्रकाशन में किसी प्रोफेसर ने अमेरिकी 'न्यूयॉर्क टाइम्स' की 1971 ई. की एक रिपोर्ट को उद्धृत किया, जो सविस्तार बताती थी कि 1970-71 में पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) में हुए संहार का मुख्य निशाना हिन्दू थे। किन्तु पर्चे में दिए उस अंश को संपादक ने हटा दिया।

इसी क्रम में, यहाँ सांप्रदायिक हिंसा पर विमर्श में संबंधित अंतरराष्ट्रीय तथ्य नजरअंदाज किए जाते हैं। जबकि विभिन्न देशों में मुस्लिमों के क्रिश्चियनों के साथ संबंध, तथा उन्हीं क्रिश्चियनों के साथ हिन्दुओं के संबंध की तुलनात्मक स्थिति देखनी चाहिए। भारत में सांप्रदायिक हिंसा का इतिहास और गणित समझने में वह प्रासंगिक है। यूरोप में भी हिन्दू मंदिरों और बस्तियों पर हमले की घटनाओं के शिकार भारतीय मूल के हिन्दू और शिकारी प्रायः आप्रवासी मुस्लिम ही अधिक रहे हैं। यूरोपीय-अमेरिकी-अफ्रीका महादेशों में सांप्रदायिक हिंसा का आकलन देखना इसलिए भी जरुरी है क्योंकि उस से उत्पीड़क-उत्पीड़ित का हिसाब और समस्या का मूल समझने में मदद मिलती है।

इस प्रकार, दंगे के सिद्धांत और व्यवहार में सभी जरूरी विवरण जोड़ें तो तस्वीर उलट जाती है। जिसे स्थाई उत्पीड़ित मानकर यहाँ एक फासिस्ट कानून बनाने का प्रस्ताव किया गया था, वास्तव में उसी ने दूसरे समुदायों को सारी दुनिया में आतंकित कर रखा है! यह स्वयं उस समुदाय के विविध संगठनों की खुली घोषणाओं में है कि उस के सिद्धांत और मंसूबे शत-प्रतिशत सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा है, जिस से उन की आक्रामक योजनाएं चलती हैं। उसी को लागू करने के लिए वे किसी भी हद तक जाते हैं। यहाँ तक कि अपने समुदाय के बाधक तत्वों को भी मारते हैं। कश्मीर में जो काम लश्करे-तोयबा ने किया, वही सीरिया-ईराक में इस्लामी स्टेट और बोको हराम नाइजीरिया में कर रहा है। वही ईरान में खुमैनी राज और अफगानिस्तान में तालिबान राज में हुआ था। यह सब सांप्रदायिक हिंसा के उदाहरण हैं। उन की मूल वैचारक प्रेरणा वही है जो यहाँ इंडियन मुजाहिदीन, जैशे मुहम्मद या तबलीगी जमात की है। इन सभी के बीच समान सूत्र को भुला कर यहां सांप्रदायिक हिंसा की चिंता करना स्वयं को भुलावा देना है। ऐसा करके हम समस्या समझ भी न सकेंगे, समाधान सोचना तो दूर रहा।

उक्त सचाई न तो केवल भारत की है, न केवल आज की। कथित अल्पसंख्यक समुदाय ही कथित बहुसंख्यक समुदाय को मारता, धमकाता, प्रताड़ित-अपमानित करता और उन की जमीन और सर्वस्व छीनता रहा है। यह सब न केवल आंकड़ों के गणित, बल्कि स्वयं अल्पसंख्यक नेताओं की अनगिनत घोषणाओं, धमकियों में भी दर्ज है। इस पर चिंता भी बंकिमचन्द्र, स्वामी विवेकानन्द, शरतचन्द्र, श्रीअरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, लाला लाजपत राय, एनी बेसेंट, महात्मा गाँधी और डॉ. भीमराव अंबेडकर डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे विविध प्रकार के महापुरुषों के अवलोकनों में भी लगभग एक जैसी अंकित है। उन सभी तथ्यों, अवलोकनों को क्यों भुलाया जाता है? यह सरल ऐतिहासिक तथ्य भी कि भारत का विभाजन एकतरफा सांप्रदायिक हिंसा के बल पर हुआ था। इसे खुद मुहम्मद अली जिन्ना ने ठसक से कहा था मुस्लिम लीग के हिन्दू-विरोधी दंगे ही निर्णायक कारण था, अन्यथा पाकिस्तान न बनता।

विभाजन के बाद भारत में हुए दंगे भी वही एकतरफा कहानी हैं। अलीगढ़ दंगे (1978), जमशेदपुर (1979), मुरादाबाद (1980), मेरठ (1982), भागलपुर (1989), बंबई (1992-93) भी मुसलमानों द्वारा आरंभ किए गए। कारण भी प्रायः अनुचित। जैसे, किसी मुस्लिम अपराधी को पुलिस द्वारा पकड़े जाने की प्रतिक्रिया। यह सब हर कहीं स्थानीय जनता को मालूम है, बल्कि राजनीतिक किस्म के जाँच आयोग बनाने के बावजूद कई न्यायिक रिपोर्टों में भी यह दर्ज है। जैसे, जमशेदपुर दंगे की जाँच में जस्टिस जितेंद्र नारायण आयोग, तथा भागलपुर दंगे के बाद जस्टिस आर. एन. प्रसाद आयोग की रिपोर्टें। हाल का सब से कुख्यात गुजरात दंगा (2002) भी गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस में हिन्दू तीर्थयात्रियों को जिंदा जला देने के बाद ही शुरू हुआ।

देश-विभाजन के बाद पाकिस्तानी क्षेत्रों से हिन्दुओं को मार भगाया गया या जबरन धर्मांतरित करा लिया गया। सांप्रदायिक हिंसा का गणित दिखाता है कि 1947 से 1989 ई. तक भारत में हिन्दुओं के हाथों जितने मुसलमान मरे, उतने हिन्दू पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) में 1950 के कुछ महीनों में ही मारे जा चुके थे! वह संहार अंतिम भी नहीं था। वहाँ केवल 1970-71 में कम से कम दस लाख हिन्दुओं का संहार हुआ। वह नरसंहार विगत आधी सदी में दुनिया का सब से बड़ा था! किन्तु उस के मुख्य शिकार हिन्दू थे, यह तथ्य सब ने नजरअंदाज किया है। क्यों किया है? क्या यह हमारे लेखकों, विद्वानों, नेताओं के सोचने का विषय नहीं? इस बौद्धिक भैंगेपन से रोग के और बढ़ते जाने का काम हुआ है। जिस का ताजा उदाहरण दिल्ली के दंगे और बंगलौर के विध्वंस हैं।

इस प्रकार, दंगे के सिद्धांत और व्यवहार में सभी जरूरी विवरण जोड़ें तो तस्वीर उलट जाती है। जिसे स्थाई उत्पीड़ित मानकर यहाँ एक फासिस्ट कानून बनाने का प्रस्ताव किया गया था, वास्तव में उसी ने दूसरे समुदायों को सारी दुनिया में आतंकित कर रखा है! यह स्वयं उस समुदाय के विविध संगठनों की खुली घोषणाओं में है कि उस के सिद्धांत और मंसूबे शत-प्रतिशत सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा है, जिस से उन की आक्रामक योजनाएं चलती हैं।

पूरा हिसाब करें, तो भयावह वास्तविकता सामने आती है कि केवल 1947 ई. के बाद से हुई सांप्रदायिक हिंसा में मुसलमानों की तुलना में नौ गुना हिन्दू मारे गए हैं! सामूहिक विस्थापन और शरणार्थियों के आकंड़ों में भी उसी की झलक है। सर्वविदित है, कि पाकिस्तान और बंगलादेश से उत्पीड़न के मारे हिन्दू शरणार्थी लाखों की संख्या में भारत आते रहे, वहीं उसी कारण भारत से पाकिस्तान जाने वाले मुस्लिम कोई नहीं थे। क्या इस प्रत्यक्ष सचाई से भी वास्तविकता स्पष्ट नहीं होती?

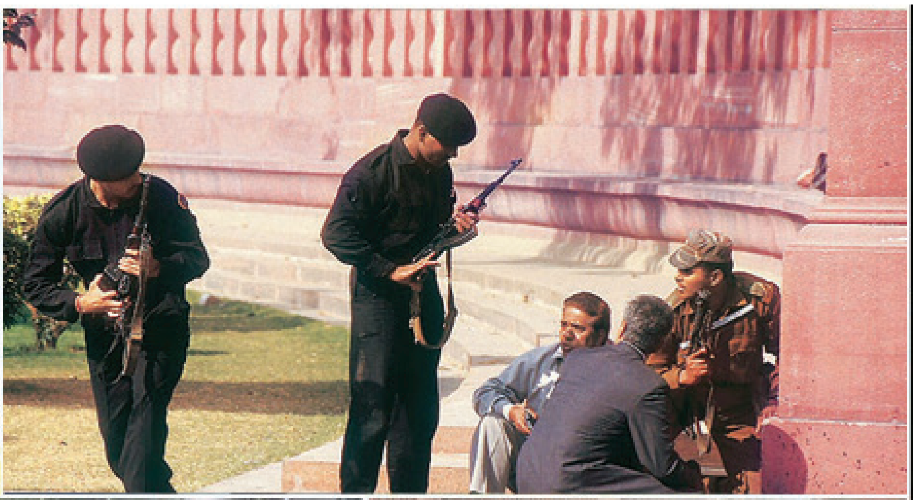

विभाजन के बाद बचे कटे-छँटे भारत में भी सांप्रदायिक दंगों में सामुदायिक हिसाब की वही कहानी है। दंगों की दबी-ढँकी रिपोर्टिंग, सरकारी जाँच और न्यायिक आयोगों की रिपोर्टें भी यही बताती हैं कि सांप्रदायिक हिंसा का आरंभ प्रायः मुस्लिमों की ओर से होता है। इस के उलट, पाकिस्तान या बंगलादेश में कभी किसी हिन्दू द्वारा मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा या दंगे की आज तक कभी कोई खबर नहीं आई। ऐसे सभी तथ्य बुनियादी हैं, जिन्हें दंगों पर विचार-विमर्श में जोड़कर देखना चाहिए।

अतः भारत में सदैव एक ही समुदाय द्वारा हिंसा आरंभ करने के बाद भी उसी को पीड़ित बताना देश के लिए घातक है। यह सच्चे विचार-विमर्श के बदले राजनीतिक प्रोपेगंडा भर बन जाता है। कड़वी सचाई से कतराकर, सभी पहलुओं पर खुली चर्चा न करके लीपापोती करते अधकचरा छोड़ दिया जाता है। इस पलायनवादी प्रवृत्ति से किसी का भला नहीं हुआ है।

उपदेश और नकली बातें व्यर्थ हैं

दंगाइयों को 'अपराधी तत्व' कहकर सपाट उपदेश देना फिजूल है। यह निर्दोष मृतकों का अपमान और दंगे के कारणों को छिपाना है। इस से मूल दोष और दोषी बचे रहते हैं। उन्हें अपनी गलती नहीं दिखती। वे आगे फिर वही करने के लिए नैतिक रूप से तैयार रहते हैं। अतः यदि बीमारी ही छिपी रहे, तब क्या आश्चर्य कि समाधान भी दूर रहे।

यह नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दू और मुस्लिम इस देश में सदियों से एक दूसरे को देख, समझ और भुगत रहे हैं। दोनों ही दुनिया के और देशों में, अन्य समुदायों के साथ भी रह रहे हैं। उन दूसरों, तीसरों के साथ इन का कैसा आपसी संबंध है? उन के बीच किस तरह की घटनाएं घटती या नहीं घटती? यह सब भी यहाँ दंगों के मूल्यांकन में उपयोगी है।

आप्रवासी हिन्दू बड़ी संख्या में अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका और पूर्वी एशिया के कई देशों में लंबे समय से रह रहे हैं। उन्हें कहीं भी झगड़ालू समुदाय नहीं देखा जाता। जबकि मुस्लिम समुदाय का दुनिया के हर देश में दूसरे समुदाय से झगड़े, हिंसा और संदेह का संबंध है। तो क्या सारी दुनिया में अन्य सभी समुदाय गलत हैं, और केवल मुस्लिम ही हर कहीं सही हैं? इसे सेटेलाइट टेलीविजन

सांप्रदायिक हिंसा को समाप्त करने का सही उपाय 1930 के दशक में ही श्रीअरविन्द जैसे ज्ञानियों ने बताया था। उन्होंने कहा था कि तथ्यों की उपेक्षा करने से कोई लाभ नहीं है। मुस्लिम नेताओं की मनमानी माँगे मानते जाने से कोई समाधान न होगा। कभी न कभी हिन्दुओं को मुसलमानों से लड़ना पड़ सकता है और उन्हें इस के लिए तैयार रहना चाहिए।

और इंटरनेट के कारण सभी लोग स्वयं देख और परख सकते हैं।

हमें इतिहास से सीखना चाहिए। सांप्रदायिक हिंसा पर दुनिया भर में इतनी विस्तृत सामग्री उपलब्ध है, कि उन का वैज्ञानिक विश्लेषण स्वतः सटीक उपचार सुझाता है। दंगों का मुख्य कारण और उस के दोषी वह आरंभ करने वाले लोग नहीं-बल्कि वह राजनीतिक मतवाद है जो अपने अनुयायियों में दंगे, हिंसा और विशेषाधिकार की मानसिकता का पोषण करता है। इसे पहचानना कठिन नहीं। न ही इसे हराना। यदि इस मतवाद को खुली वैचारिक चुनौती मिले तो वह बिना किसी हिंसा के धराशायी हो जाएगा! कम से कम भारत जैसी महान सांस्कृतिक परंपरा और गैर-मुस्लिम बहुसंख्या वाले देश में। यह आजमाने की चीज है।

सच्ची शिक्षा ही उपाय

सांप्रदायिक हिंसा को समाप्त करने का सही उपाय 1930 के दशक में ही श्रीअरविन्द जैसे ज्ञानियों ने बताया था। उन्होंने कहा था कि तथ्यों की उपेक्षा करने से कोई लाभ नहीं है। मुस्लिम नेताओं की मनमानी माँगे मानते जाने से कोई समाधान न होगा। कभी न कभी हिन्दुओं को मुसलमानों से लड़ना पड़ सकता है और उन्हें इस के लिए तैयार रहना चाहिए। दूसरे, अपने मजहबी मतवाद पर मुसलमानों का विश्वास घटाने का प्रयास करना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर ने भी कहा था कि ''मुसलमानों की माँगे हनुमान जी की पूँछ की तरह बढ़ती जाती हैं।'' अतः वे भी मानते थे कि अहंकारी मतवाद के नशे में डूबे मुस्लिमों को संतुष्ट करना असंभव है।

पर गाँधीजी के भ्रामक-प्रचार में ठीक उलटा किया गया। राजनीतिक इस्लाम के बदले कुछ मुस्लिम नेताओं या उग्रपंथियों को महत्वपूर्ण माना गया। तब से वही चल रहा है। हाल में तबलीगी जमात, या दिल्ली माइनॉरिटी कमीशन के चेयरमैन जफरुल इस्लाम खान के उग्र भारत-विरोधी बयानों पर वही हुआ। इन्हें 'भटका हुआ' या अपवाद कह कर इस्लाम को सिरोपा चढ़ाया जाता है। गाँधी-नेहरू, गुरू गोलवलकर से लेकर बराक ओबामा तक यही चल रहा है। सारी क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्ति या गुट केंद्रित रह जाती है। समस्या की जड़ अछूती बची रहती है।

जबकि बात इस्लाम के दावों पर लानी चाहिए। तमाम सांप्रदायिक इतिहास एक ही कहानी कहता है। तात्कालिक घटना कुछ हो, इस्लामी मतवाद ही मुसलमानों से सदैव एक-सा व्यवहार कराता है। यह यहाँ एक हजार साल से जाहिर है। बाहरी हमलावर मुसलमान, भारत में शासक मुसलमान, और हिन्दुओं के पड़ोसी मुसलमान- सब ने हिन्दुओं के साथ प्रायः एक सा व्यवहार किया। हिन्दू मंदिरों एवं देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तोड़ना, अपमान, जबरन धर्मांतरण या मार डालना। यह सब इस्लामी इतिहास के किताबों में ही हजारों बार लिखा है। आज भी बाहरी खुमैनी, बगदादी से लेकर अंदरूनी बुखारी, ओवैसी, जाकिर, नदवी, जफरुल, आदि बड़े-बड़े मुस्लिम नेता खुल कर जब-तब धमकियाँ देते और वही कारनामे करते हैं।

किन्तु मुसलमानों द्वारा होते ऐसे उग्र कार्य-विचार की भर्त्सना या उन पर कानूनी कार्रवाई नहीं होती। फलतः उन्हें लगता है कि दूसरे उन से डरते हैं। कि इस्लाम को दुनिया पर राज करने का अधिकार है। कि दूसरे धर्म वालों को मिट जाना या धर्मांतरित होना है, कि प्रोफेट मुहम्मद सारी मानवता के अंतिम और स्थाई आदर्श हैं। कि उन का अनुकरण कर मुसलमानों ने तलवार से इतनी दुनिया जीत ली, और बाकी भी जीत लेनी है। यही राजनीतिक इस्लामी मतवाद के मूल तत्व हैं। यही विविध रूप में मुस्लिमों को नियमित रटाया जाता है। यदि एक प्रतिशत मुस्लिम भी उन बातों के लिए सक्रिय हो जाएं, तो समाज का विध्वंस करते रहने के लिए काफी होते हैं। यह खुद अनेक मुस्लिम देशों में अशान्ति से दिखता है। उन के कारण भी मुख्यतः मतवादी वाद-प्रतिवाद ही होते हैं।

उपर्युक्त तमाम बातों को कुछ लोग 'किसी समुदाय के विरुद्ध घृणा फैलाना' कहते हैं। वे केवल झूठी, मीठी बातें कह-कह कर सांप्रदायिक या जिहादी जोश को शांत करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को डॉ. कूनराड एल्स्ट का कथन याद रखना चाहिए। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर रेखांकित किया है कि जो इस्लामी मतवाद की आलोचना करते हैं, उन्होंने कभी एक भी मुसलमान को शारीरिक चोट नहीं पहुँचाई। जैसे श्रीअरविन्द, डॉ. अंबेदकर, रमेशचंद्र मजूमदार, रामस्वरूप, सीताराम गोयल, अरुण शौरी, राजीव मल्होत्रा, आदि या कूनराड एल्स्ट स्वयं।

इस के विपरीत जो लोग राजनीतिक इस्लाम को खूब श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हैं, जैसे जॉर्ज बुश, टोनी ब्लेयर, बराक ओबामा तथा याहया खान, जुल्फिकार अली भुट्टो, मुल्ला उमर, अयातुल्ला खुमैनी, हिजबुल मुजाहिदीन, लश्करे तोयबा, इस्लामी स्टेट, आदि,- उन्हीं लोगों ने लाखों मुसलमानों को मारा। आदेश देकर, खुद भाग लेकर या दोनों तरीकों से। पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, सीरिया, ईराक, यमन, बहरीन, आदि देशों में मुसलमान किन के हाथों मारे जा रहे हैं? यह नोट करना चाहिए, और इस्लामी मतवाद की आलोचना करने वालों की मानवीयता, उन की नेकनीयती समझनी चाहिए।

किसी मतवाद की आलोचना उस के अनुयायियों के विरुद्ध घृणा फैलाना नहीं है। जैसे चार दशक पहले लेनिनवाद-माओवाद की आलोचना करना रूसियों या चीनियों के विरुद्ध घृणा फैलाना नहीं था। आज इस्लामी मतवाद को आलोचना से बचाने के लिए ऐसी चतुराई का सहारा लेना दिखाता है कि वास्तव में गड़बड़ी ठीक यहीं है! डॉ. एल्स्ट की सलाह है कि इसी बिन्दु पर लड़ाई लड़ी जानी चाहिए। यह बिलकुल अहिंसक लड़ाई है जो सांप्रदायिक हिंसा के मूल कारण को ही खत्म या निष्क्रिय कर कर सकती है। ✔